

५. नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यम् उक्तम् कर्मकांडे भव्यो धर्मो जिज्ञास्यः, इह तु भूतं नित्यनिर्वृत्तं ब्रह्मजिज्ञास्यमिति? तत्र धर्मज्ञानफलात् अनुष्ठानापेक्षात् विलक्षणं ब्रह्मज्ञान-फलं भवितुमर्हति। नार्हत्येवं भवितुम्। कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात् “आत्मा वा अरे द्रष्यव्यः” (बृ. २.४.५) इति। “य आत्मा अपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः” (छां. ८.७.१), “आत्मेत्येवोपासीत” (बृ. १.४.७), “आत्मानमेव लोकमुपासीत” (बृ. १.४.१५), “ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति” (मुं. ३.२.९) इत्यादि विधानेषु सत्सु कोऽसौ आत्मा? किं तद् ब्रह्म? इत्याकांक्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्ववेदान्ता उपयुक्ताः “नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतः नित्यतृप्तः नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावः”, “विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” इत्येवमादयः। तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टः मोक्षः फलं भविष्यतीति।

५. यदि कहो कि यहाँ जिज्ञास्य का भेद कहा है—कर्मकाण्ड में साध्यधर्म जिज्ञास्य है और यहाँ तो सिद्ध और अविनाशी ब्रह्म जिज्ञास्य है। उनमें अनुष्ठान की अपेक्षा वाले धर्मज्ञान के फल से ब्रह्मज्ञान का फल विलक्षण होना चाहिए। तो ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि कार्यविधि में प्रयुक्त हुआ ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है। ‘आत्मा वा०’ (अरे मैत्रेयि! आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए) ‘य आत्मा०’ (जो आत्मा पापरहित है, उसकी खोज करनी चाहिए, उसका विशेष ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिए) ‘आत्मेत्ये०’ (आत्मा इसी प्रकार उपासना करनी चाहिए) ‘आत्मानमेव०’ (आत्मा की ही स्वलोक रूप से उपासना करे) ‘ब्रह्म वेद०’ (ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है) इत्यादि विधान हैं, इसलिए वह आत्मा कौन है, वह ब्रह्म क्या है ऐसी आकांक्षा होने पर ब्रह्म के स्वरूप का बोध कराने के लिए ‘नित्यः सर्वज्ञः०’ (ब्रह्म नित्य, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, विज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप है) ये और दूसरे सब वेदान्तवाक्य उपयुक्त हैं। उस ब्रह्म की उपासना द्वारा शास्त्र से अवगत अदृष्ट मोक्षरूप फल होगा।

( ५.१ ) सिद्धान्ती का प्रत्याक्षेपः—कर्मकाण्ड में जिज्ञास्य धर्म है और ज्ञानकाण्ड में ब्रह्म। ये दोनों विलक्षण हैं। धर्म आगे होनेवाले अनुष्ठान की अपेक्षा रखता है। ब्रह्म अभी है और सर्वदा रहनेवाला भी है यह कह चुके हैं; इसलिये, दोनों के फल का स्वरूप भी अलग-अलग ही होगा न?

मीमांसक का प्रत्युत्तरः—ऐसा होने की आवश्यकता नहीं है। कर्मकाण्ड में जैसे पहले कर्म का ज्ञान फिर उसका अनुष्ठान और अनन्तर उसके फल की व्यवस्था है वैसे ही ज्ञानकाण्ड में भी पहले ब्रह्म का ज्ञान, फिर ब्रह्मोपसना और उसके अनन्तर अदृष्ट मोक्षफल की व्यवस्था है।

‘आत्मा की ही स्वलोकस्वरूप से उपासना करे-आत्मानम् एव लोकम् उपासीत’ इस प्रकार स्पष्टरूप से उपासनाविधि ही कही गयी है। तथा ‘वह आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युहीन, शोक, भूख, प्यास इत्यादि से रहित है’ ‘विज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप ब्रह्म’ इस प्रकार उपास्य लक्षणों को भी कहा ही है।

इस प्रकार कुछ उपनिषदवाक्यों का उपासनाविधि से सम्बन्ध कहकर पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि ‘कार्य से असंबन्धित परिनिष्ठित वस्तु का वर्णन करना निरर्थक है’।

६. कर्तव्यविध्यननुप्रवेशे वस्तुमात्रकथने हानोपादान असंभवात् “सप्तद्वीपा वसुमती”, “राजासौ गच्छति” इत्यादि वाक्यवत् वेदान्तवाक्यानाम् आनर्थक्यमेव स्यात्। ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि “रज्जुरियं नायं सर्पः” इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेन अर्थवत्त्वं दृष्टम्? तथा इहापि असंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनिवर्तनेन अर्थवत्त्वं स्यात्। स्यादेतदेवं यदि रज्जु स्वरूपश्रवणे इव सर्पभ्रान्तिः संसारित्वभ्रान्तिः ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत। न तु निवर्तेत। श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादि संसारिधर्मदर्शनात्। “श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” (बृ. २.४.५) इति च श्रवणोत्तरकालयोः मनननिदिध्यासनयोःविधिदर्शनात्। तस्मात् प्रतिपत्तिविधिविषयतया एव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म अभ्युपगन्तव्यमिति।

६. परन्तु वेदान्तवाक्यों को कर्तव्यविधि का शेष न मानें और वे वस्तुमात्र का कथन करते हैं ऐसा समझें तो हान और उपादान का असंभव होने से ‘सप्तद्वीपा०’ (सात द्वीपवाली पृथिवी) ‘राजाऽसौ०’ (यह राजा जाता है) इत्यादि वाक्यों के समान वेदान्तवाक्य अनर्थक हो जायेंगे। यदि कहो कि ‘रज्जुरियं०’ (यह रज्जु है यह सर्प नहीं है) इत्यादि वस्तुमात्रकथन भी भ्रान्ति से उत्पन्न हुए भय की निवृत्ति करके सार्थक होता है, ऐसा देखने में आता है; इसी प्रकार यहाँ भी असंसारी आत्मतत्त्व का कथन संसारित्व की भ्रान्ति की निवृत्ति करके सार्थक होता है। यह तभी हो सकता है जब कि जैसे वस्तुस्वरूप के श्रवण से सर्प का भय निवृत्त हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मस्वरूप के श्रवणमात्र से संसारित्व की भ्रान्ति दूर हो जाय। परन्तु वह (भ्रान्ति) निवृत्त नहीं होती, क्योंकि जिन्होंने ब्रह्म का श्रवण किया है, उनमें भी पूर्व के समान सुख, दुःख आदि संसारिक धर्म देखने में आते हैं। ‘श्रोतव्यो०’ (श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए और निदिध्यासन करना चाहिए) इसमें श्रवण के उत्तरकाल में मनन और निदिध्यासन देखने में आते हैं, इसलिए ऐसा अंगीकार करना चाहिए कि उपासनाविधि का विषय होने से ही ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है।

( ६.१ ) ऊपर सिद्धान्ती के प्रश्न 'यह रज्जु है, सर्प नहीं' इत्यादि में एक संशय है। सर्पजनित भ्रांति की निवृत्ति तो रज्जु के ज्ञान से ही होती है, 'यह रज्जु है, सर्प नहीं' इस वस्तुमात्रकथन से तो नहीं होती है न?

**उत्तर:-**सत्य। उस कथन के श्रवण के पश्चात् श्रोता जब रज्जु की परीक्षा करके रज्जुज्ञान पाता है तभी भ्रान्ति निवृत्त होती है। लेकिन वक्ता के द्वारा जो होता है वह तो वस्तुमात्र का कथन ही है न; उसी प्रकार, दार्ष्टान्त में श्रुति द्वारा कहे ब्रह्मस्वरूपमात्रकथन से निपुण मति वाले जिनको अज्ञान, संशय, या विपर्ययरूप 'तत्' 'त्वम्' पदार्थविषयक प्रतिबन्ध नहीं हैं, वे एक बार में ही 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ अनुभव कर लेते हैं—'येषां पुनः निपुणमतीनां न अज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धः अस्ति ते शक्नुवन्ति सकृत् उक्तम् एव तत्त्वमसिवाक्यार्थम् अनुभवितम्' (सू.भा. ४.१.२)। अनिपुणमति को तो श्रवणान्तर मनन और निदिध्यासन करना ही होता है। सिद्धान्त के अनुसार ये विधि है या नहीं इसकी चर्चा बाद में होगी। प्रस्तुत में तो, पूर्वपक्षी के अनुसार, 'केवल श्रवणमात्र से ही फल नहीं है। फल के लिये तो श्रुतब्रह्म की उपासना करनी ही होती है; इसलिये, श्रुत्युक्त मनन और निदिध्यासन उपासनाविधि ही हैं। इस प्रकार, प्रतिपत्तिविधि के विषय होकर ही ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक हैं।'

अब आगे, इनमें से हर आक्षेप का उत्तर देकर सिद्धान्त का प्रतिपादन करेंगे। अब तक आये आक्षेप इस प्रकार हैं :-

(अ) कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों वेद ही होने से कर्मकाण्ड के नियम का ज्ञानकाण्ड में भी अन्वय होता है।

(आ) यह अन्वय उपासनाविधि के द्वारा हो सकता है।

(इ) उपनिषद में उपासना कही भी गयी है।

(ई) मोक्ष उपासना का अदृष्ट फल है।

(उ) केवल वस्तुमात्र के कथन से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

(ऊ) ब्रह्मज्ञानानंतर भी संसार रहता ही है, उसका नाश नहीं होता।

७. अत्राभिधीयते न। कर्मब्रह्मविद्याफलयोः वैलक्षण्यात्। शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यम्, यद्विषया जिज्ञासा "अथातो धर्मजिज्ञासा" (जै. सू. १.१.१) इति सूत्रिता। अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदना लक्षणत्वात् जिज्ञास्यः परिहाराय। तयोः चोदनालक्षणयोः अर्थानर्थयोः धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेव उपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे। मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यम् अनुश्रूयते। ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य

तारतम्यं गम्यते। धर्मतारतम्यात् अधिकारतारतम्यम्। प्रसिद्धं च अर्थित्व सामर्थ्यादि कृतम् अधिकारितारतम्यम् । तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषात् उत्तरेण पथागमनम्, केवलैः इष्टापूर्तदत्तसाधनैः धूमादि क्रमेण दक्षिणेन पथागमनम्, तत्रापि सुखतारतम्यं तत्साधनतारतम्यं च शास्त्रात् “यावत्संपातमुषित्वा” (छां. ५.१०.५) इत्यस्मात् गम्यते। तथा मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवः चोदनालक्षणधर्मसाध्य एव इति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः। तथा ऊर्ध्वगतेषु अधोगतेषु च देहवत्सु दुःख-तारतम्यदर्शनात् तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते। एवम् अविद्यादि दोषवतां धर्मधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुख-दुःखतारतम्यं अनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्। तथा च श्रुतिः “न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोः अपहतिरस्ति” (छां. ८.१२.१) इति यथावर्णितं संसाररूपम् अनुवदति।

७. (यहाँ तक पूर्वपक्ष ग्रन्थ है) इस पर कहा जाता है नहीं, क्योंकि कर्म और ब्रह्मविद्या के फल विलक्षण हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध, धर्मसंज्ञक हैं, जिसकी जिज्ञासा ‘अथातो०’ (वेदाध्ययन के पश्चात् धर्म का निर्णय करने के लिए धर्मजिज्ञासा करनी चाहिए) इस सूत्र में प्रतिपादित है। प्रतिषेधवाक्यों से लक्षित होने के कारण परिहार के लिए हिंसादिरूप अधर्म की भी जिज्ञासा करनी चाहिए। चोदना जिसका लक्षण है, ऐसा अर्थ और अनर्थरूप धर्म एवं अधर्म के फल सुख और दुःख प्रत्यक्ष हैं, उनका उपभोग शरीर, वाणी और मन से होता है, विषय और इन्द्रियों के संयोग से वे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सभी में प्रसिद्ध हैं। मनुष्य से लेकर ब्रह्मा तक सभी शरीरधारियों में सुख का तारतम्य श्रुति में वर्णित है, सुखतारतम्य से उसके हेतु धर्म का तारतम्य भी ज्ञात होता है और धर्म के तारतम्य से अधिकारी का तारतम्य सूचित होता है। फलकामना, सामर्थ्य आदि कारणों से अधिकारी का तारतम्य प्रसिद्ध है। इस प्रकार याग आदि अनुष्ठान करनेवाले लोग ही विद्या (उपासना) रूप समाधिविशेष के बल से उत्तरमार्ग से जाते हैं। केवल इष्टा, पूर्त और दत्तरूप साधनों से सम्पन्न पुरुष धूम आदि क्रम से दक्षिण मार्ग से जाते हैं। वहाँ भी सुख और उसके साधनों का तारतम्य ‘यावत्०’ ( भोग्य कर्मों के निश्शेष होने तक वहाँ रहकर पीछे लौटता है) इस शास्त्र से जाना जाता है। इस प्रकार अनुमान होता है कि मनुष्य से लेकर नारकीय और स्थावरपर्यन्त जीवों में तारतम्य से विद्यमान सुखलेश प्रवर्तक धर्म से ही जन्य है। इसी प्रकार स्वर्गीय और नारकीय जीवों में दुःख

का तारतम्य देखने में आता है, उससे उसके हेतु प्रतिषेधप्रवर्तक वाक्यों से लक्षित अधर्म का और उसके अनुष्ठान करने वालों का तारतम्य जाना जाता है। इस प्रकार अविद्या आदि दोष वालों के धर्म और अधर्म के तारतम्य से शरीर-ग्रहणपूर्वक उत्पन्न हुए सुख-दुःख का तारतम्य अनित्य और संसाररूप है, ऐसा श्रुति, स्मृति और न्याय में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार 'न ह वै०' (सशरीरी के सुख-दुःख का विनाश नहीं होता है) यह श्रुति पूर्ववर्णित संसाररूप का अनुवाद करती है।

( ७.१ ) जिज्ञासा अधिकरण में 'धर्म ब्रह्मजिज्ञासयोः फल जिज्ञास्य भेदाच्च' कहकर कर्मफल-ब्रह्मविद्याफल में जिस अंतर को सूचित किया था, उसका विवरण यहाँ है। दोनों के फल और विषय में भेद दिखा रहे हैं। कर्म कायेन, वाचा, मनसा होते हैं। श्रुत्युक्त धर्माधर्म के अनुगुण होने वाले सत्कर्मों का फल सुख और दुष्कर्मों का फल दुःख प्रत्यक्ष हैं, कायेन, वाचा, मनसा अनुभव में आनेवाला और तारतम्य वाला है। अधिकारी तारतम्य यह है:-कर्म का अधिकारी 'अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेण अविपर्युदस्तः' - फलाकांक्षी, कर्म करने में समर्थ, कर्म स्वरूप को जानने वाला विद्वान्, और शास्त्र द्वारा उस कर्म के लिये अनिषिद्ध जो होता है, वही अधिकारी होता है। अर्थित्व, सामर्थ्य और विद्याओं में तारतम्य रहता है।

इष्टा का अर्थ है कर्ता को ही अपना फल देने वाले अग्निहोत्रादि कर्म; पूर्त का अर्थ है अन्य को और पारंपर्य से अपने को भी फल देने वाले कुंआ, बावड़ी आदि बनवाना रूप कर्म; दत्त का अर्थ है दान। इस प्रकार, 'सशरीरी के प्रिय और अप्रिय का नाश नहीं होता है'। शरीर में अध्यास करने वाला जीव ही सशरीरी होता है। वही कर्म करता है और फल भोगता है; उसकी सुख दुःख से मुक्ति नहीं होती।

८. "अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" (छां. ८.१२.१) इति प्रियाप्रिय-स्पर्शनप्रतिषेधात् चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्य अशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यते इति गम्यते। धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते। अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेत्? न। तस्य स्वाभाविकत्वात्। "अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" (क. १.२.२), "अप्राणोह्यमनाः शुभ्रः" (मुं. २.१.२), "असंगोह्ययं पुरुषः" (बृ. ४.३.१५) इत्यादि श्रुतिभ्यः। अत एव अनुष्ठेय कर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यम् अशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम्।

८. 'अशरीरं०' (प्रिय और अप्रिय वस्तुतः अशरीरी का स्पर्श नहीं करते) इस श्रुति से प्रिय और अप्रिय के स्पर्श के प्रतिषेध से मोक्षसंज्ञक अशरीर स्थिति के चोदनालक्षण धर्म से उत्पन्न होने का प्रतिषेध किया है, ऐसा जाना जाता है, क्योंकि मोक्ष को धर्म से उत्पन्न मानें तो उसमें प्रिय और अप्रिय के स्पर्श का प्रतिषेध संगत न होगा। तब शरीररहितस्थिति ही धर्म से उत्पन्न हो, यह

कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'अशरीरं०' (अशरीर, अनित्य शरीरों में स्थित, महान और विभु आत्मा को जानकर विद्वान् शोक नहीं करता) 'अप्राणो०' (प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध) 'असंगो हि०' (यह पुरुष सङ्गरहित है) इत्यादि श्रुतियों से यह स्थिति स्वाभाविक ज्ञात होती है। इसी कारण अनुष्ठेय कर्म के फल से विलक्षण मोक्षसंज्ञक शरीररहित स्थिति नित्य है यह बात सिद्ध होती है।

(८.१) 'सशरीरी के प्रिय-अप्रिय का नाश नहीं होता' यह कहकर अगले वाक्य में 'अशरीरी को प्रिय-अप्रिय का स्पर्श भी नहीं है' कहने से अशरीरी का अर्थ 'शरीर के मरने के बाद' नहीं हो सकता क्योंकि ये दोनों वाक्य अमुक्त और मुक्त की तुलना में कहे गये हैं; और मृत को प्रियाप्रिय का स्पर्श है या नहीं, अन्य लोग नहीं समझ सकते। इतना ही नहीं, अशरीरत्व धर्मफल भी नहीं है, क्योंकि धर्म से प्रिय का स्पर्श तो होता ही है। इन श्रुतिवाक्यों से यह भी स्पष्ट है कि अशरीरत्व ही मुक्ति है। इसलिये, मोक्ष अदृष्ट फल नहीं है; मरने के बाद प्राप्त होने वाला नहीं है। यह नित्य ही है क्योंकि यदि यह कर्मफल के समान व्यय होने वाला होता तो शोक फिर से लौटकर आ सकता था। परन्तु कठश्रुति मुक्त में शोक का निषेध करती है।

९. तत्र किञ्चित् परिणामिनित्यं यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिः न विहन्यते। यथा पृथिव्यादि जगन्नित्यत्ववादीनाम्। यथा च सांख्यानां गुणाः। इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं व्योमवत् सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयं-ज्योतिः स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सहकार्येण कालत्रयं च नोपावर्तते। तदेतत् अशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। "अन्यत्र धर्मात् अन्यत्राधर्मात् अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च" (क. १.२.१४) इत्यादि श्रुतिभ्यः। अतः तद् ब्रह्म यस्य इयं जिज्ञासा प्रस्तुता। तद्यदि कर्तव्यशेषत्वेन उपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेत् मोक्षो अभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्। तत्र एवं सतिः यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेषु अनित्येषु कश्चिद् अतिशयो मोक्षः इति प्रसज्येत। नित्यश्च मोक्षः सर्वैः मोक्षवादिभिः अभ्युपगम्य-ते। अतः न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः।

९. (नित्य भी दो प्रकार का होता है परिणामी नित्य और कूटस्थ नित्य) परिणामी नित्य वह कहलाता है, जिसके विकृत होने पर भी 'यह वही है' ऐसी बुद्धि का नाश नहीं होता, जैसे कि जगत् नित्य है ऐसा कहनेवालों के मत में पृथिवी आदि, और जैसे कि सांख्याओं के मत में गुण। परन्तु यह (मोक्ष) वास्तविक कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सब विक्रियों से रहित नित्यतृप्त, निरवयव एवं स्वयंप्रकाश स्वभाव है, जहाँ धर्म-अधर्म अपने कार्य (सुख-दुःख)

के साथ तीनों काल में भी सम्बन्ध नहीं रख सकते। वह 'अन्यत्र धर्मा०' (धर्म से, अधर्म से, कार्य से, कारण से, भूत से, भविष्य से, और वर्तमान से पृथक् है) इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध शरीररहित स्थिति मोक्ष है। इसलिये कर्मफल से विलक्षण होने के कारण वह मोक्ष ब्रह्म है, जिसकी जिज्ञासा प्रस्तुत है। यदि वह कार्यशेष है ऐसा शास्त्र से उपदेश हो और मोक्ष कार्यसाध्य है ऐसा अंगीकार किया जाये तो वह अनित्य ही होगा। मोक्ष में अनित्यता सिद्ध होने पर न्यूनाधिक भाव से स्थित यथोक्त अनित्य कर्मफलों में ही कुछ अतिशय मोक्ष है ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु सब मोक्षवादी अंगीकार करते हैं कि मोक्ष नित्य है। इस कारण, कार्य के अङ्गरूप से ब्रह्म का उपदेश करना संगत नहीं होता।

(१.१) इस परिच्छेद में भाष्यकार बता रहे हैं कि मोक्ष का नित्यत्व किस प्रकार का है। वह परिणामी नित्य नहीं है। उदाहरण के लिये, नदी परिणामी नित्य है। जो पानी दिखायी देता है, उसके बदलते रहने पर भी एक ही नदी की बुद्धि का नाश नहीं होता है, इसलिये नित्य है। लेकिन मोक्ष ऐसा नहीं है, वह कूटस्थ नित्य है। अर्थात्, आकाश की तरह सर्वव्याप्त होकर सर्वत्र, सर्वकाल एक ही रूप में रहने वाला। किसी प्रकार का कोई बदलाव नहीं, ये लक्षण ब्रह्म के ही होने से मोक्ष ब्रह्म ही है। यह ब्रह्म यदि कर्म या उपासना का अंग होकर उनसे मिलनेवाला मोक्ष होता तो वह भी कर्मफल के समान अनित्य ही होता। इसलिये, ब्रह्मज्ञान कर्तव्यशेष नहीं हो सकता।

१०. अपि च "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" (मुं. ३.२.९), "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" (मुं. २.२.९), "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" (तै. २.९), "अभयं वै जनकं प्राप्तोऽसि" (बृ. ४.२.४), "तदात्मानमेवावेत् अहं ब्रह्मास्मीति, तस्मात्तत्सर्वमभवत्" (बृ. १.४.१०), "तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः" (ई. ७) इत्येवमाद्याः श्रुतयः ब्रह्मविद्यान्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यः मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। तथा "तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वाग्मदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च" (बृ. १.४.१०) इति ब्रह्मदर्शन-सर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तरवारणाय उदाहार्यम्। यथा "तिष्ठन् गायति" इति तिष्ठति गायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं नास्तीति गम्यते।

१०. और 'ब्रह्म वेद०' (जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है) 'क्षीयन्ते चास्य०' (पर-सम्पूर्ण देवताओं की अपेक्षा उत्कृष्ट हिरण्यगर्भ आदि भी जिससे अवर-निकृष्ट हैं, उसको देखने पर अथवा कारण और कार्य के रूप (ब्रह्म) को देखने पर द्रष्टा के (संचित और आगामी सब) कर्म नष्ट हो जाते हैं) 'आनन्दं०' (ब्रह्म के स्वरूप आनन्द को जानने वाला किसी से भय

नहीं करता) 'अभयं०' (हे जनक! तू अभय-ब्रह्म को प्राप्त हुआ है) 'तदात्मानमेव०' (उसने अपने आप को ही 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा जाना (उस ज्ञान से वह सब कुछ बना) 'तत्र को मोहः०' (एकत्व के अनुभवी को कैसे शोक और कैसे मोह होते हैं?) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञान के अनन्तर मोक्ष दिखलाती हुई ब्रह्मज्ञान और मोक्ष के मध्य में कार्यान्तर का वारण करती हैं। इसी प्रकार 'तद्धैतत्०' (ऐसा ज्ञान प्राप्त कर उस ज्ञान से वामदेव ने मैं मनु हूँ, मैं सूर्य हूँ, ऐसा जाना) इस श्रुति को ब्रह्मदर्शन और सर्वात्मभाव के मध्य में कार्यान्तर का प्रतिषेध करने के लिए उदाहरणरूप से कहना चाहिए। जैसे कि 'खड़ा होकर गाता है' इसमें खड़े होने और गाने की क्रियाओं के बीच में उस कर्ता का कार्यान्तर नहीं है ऐसा मालूम होता है।

(१०.१) ब्रह्मज्ञान के अकर्तव्यशेषत्व को समझाने के पश्चात् उसके दृढीकरण के लिये ही सिद्ध करते हैं कि ब्रह्मज्ञान होते ही मोक्ष है, बीच में करने के लिये कुछ नहीं है। 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है' इस कथन में ब्रह्मज्ञान और ब्रह्म होने के बीच में श्रुति किसी कर्म को नहीं कहती। लेकिन, ब्रह्मोपासना में उपासक उपास्य ही नहीं हो जाता।

'क्षीयन्ते' इत्यादि वाक्यों में जब सीधा आत्मज्ञान से सर्वकर्मनाश की बात कह रहे हैं, तब कर्म का प्रवेश कहां से हो सकता है?

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' वाक्य में विद्वान् के जीवित रहते समय ही भय का नाश कह रहे हैं। 'अभयं वै' में 'प्राप्तोऽसि'-तत्त्वज्ञान होते ही जनक को अभयप्राप्ति बता रहा है। 'प्राप्स्यसि' कहकर भविष्य में अभयप्राप्ति नहीं कही गयी है। इसी प्रकार, दूसरे वाक्यों में भी कार्यान्तर का निवारण स्पष्ट ही है।

११. "त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि" (प्र. ६.८), "श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः तरति शोकमात्मविदिति, सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु" (छां. ७.१.३), "तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः" (छां. ७.२६.२) इति चैवमाद्याः श्रुतयः मोक्षप्रतिबंध-निवृत्तिमात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति। तथा च आचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम् "दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायात् अपवर्गः" (न्या.सू. १.१.२) इति। मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानात् भवति।

११. 'त्वं हि नः पिता०' (आप हमारे पिता हैं जो आप हमको अविद्यारूप महासागर के परं पार पहुँचाते हैं) 'श्रुतं ह्येव०' (आत्मा को जाननेवाला शोक से पार हो जाता है, ऐसा मैंने भगवत्तुल्य पुरुषों से सुना है, (देखा नहीं अर्थात् मुझे अनुभव नहीं है) हे भगवन्! वह मैं शोक



करता हूँ। मुझको, भगवान्, शोक के पार उतार दीजिए) 'तस्मै मृदित०' (भगवान् सनत्कुमार ने उस दग्धपाप नारद को अज्ञान से परे (अर्थात् ब्रह्म) दिखलाया) इत्यादि श्रुतियाँ दिखलाती हैं कि मोक्ष के प्रतिबन्ध की निवृत्ति ही आत्मज्ञान का फल है। इसी प्रकार न्याय से पुष्ट हुआ आचार्य (गौतम) रचित सूत्र है—'दुःखजन्म०' (दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष एवं मिथ्याज्ञान, इनके कारणरूप उत्तरोत्तर का नाश होने से उसके पूर्व-पूर्व कार्य का नाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है) और मिथ्याज्ञान का नाश तो ब्रह्म और आत्मा के एकत्वज्ञान से होता है।

( ११.१ ) इस प्रकार ब्रह्मज्ञान और मोक्ष के बीच कार्यान्तर का निषेध किया गया। 'यदि ऐसा है, तो ब्रह्मज्ञान से सीधा मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है?' अब बताते हैं:—'हमें अविद्या के परं पार पहुंचाते हैं' कहने से 'ब्रह्मस्वरूप का अज्ञान ही मोक्ष में बाधक है और ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष है', ये दोनों एक साथ ही सिद्ध हो जाते हैं। छान्दोग्य में सनत्कुमार जी द्वारा नारद जी को दिये दोनों उपदेशवाक्यों का यही अर्थ है।

न्यायाचार्य गौतम के सूत्र का उल्लेख मोक्षप्राप्ति का क्रम समझाने के लिये किया गया है। स्वरूप के अज्ञान से मिथ्याज्ञान होता है, मिथ्याज्ञान से रागादि दोष होते हैं, इनसे कर्म में प्रवृत्ति होती है, उससे जन्म होता है, उससे दुःख की प्राप्ति होती है। इसलिये, अविद्या के नाश से मिथ्याज्ञान का नाश, उससे दोषों का नाश, उससे प्रवृत्ति का नाश, उससे जन्म का नाश और उससे दुःख का नाश होता है।

**प्रश्न:** न्यायसूत्रों में जन्मनाश से ही दुःख का नाश कहा गया है, तो फिर विदेहमुक्ति ही मोक्ष है क्या?

**उत्तर:** ऐसा नहीं है। अध्यास का नाश प्रस्तुत शरीर के नाश के समान ही है, क्योंकि, ज्ञानी का शरीर तो 'जिस प्रकार सर्प की काँचुली बाँबी के ऊपर मृत और परित्यक्त पड़ी रहती है उसी प्रकार मृत और परित्यक्त के समान पड़ा रहता है' (बृ.४.४.७), इसलिये मोक्ष जीवनमुक्ति ही है।

और एक बात:— भाष्यकार द्वारा मोक्षक्रम के लिये न्यायसूत्रों का उल्लेख करने पर भी उनका और वेदान्त का तत्त्वज्ञान अलग-अलग ही है। उनके अनुसार, आत्मा का अपने को अनात्मा समझना ही मिथ्याज्ञान है और अपने को अनात्मा से अलग करके समझना ही तत्त्वज्ञान है। यहाँ अगर आत्मा क्षेत्रज्ञ प्राज्ञ हो और अनात्मा क्षेत्र हो तो वह वेदान्त का आत्मानात्म-अविवेक मिथ्याज्ञान ही है, अध्यासभाष्य में यह स्पष्ट हो चुका है। इस आत्मा का हर दिन सुषुप्ति में अनात्मा से अलग हो जाना सबके अनुभव में है ही। इतने मात्र से ही तत्त्वज्ञान का कुछ बोध नहीं होता है और उठते ही मिथ्याज्ञान फिर आ जाता है। इसलिये वेदान्त इसका कारण दिखाकर मिथ्याज्ञान नाश के क्रम को सिखाता है। मिथ्याज्ञान का हेतु है स्वयं को ब्रह्म नहीं जानना, अर्थात् अविद्या। ब्रह्मात्मैकत्व समकाल में ही अविद्या के नाश से 'अनात्मा मुझ से अलग नहीं, लेकिन मैं अनात्मा से अलग हूँ', इस तत्त्वज्ञान का बोध होता है। इसका पूर्वार्ध सर्वात्मभाव है, उत्तरार्ध स्वरूपज्ञान है। दोनों अलग नहीं हैं, एक ही हैं। क्योंकि सर्वात्मभाव में प्रपंचविलय अंतर्गत है।

१२. न च इदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं संपद्रूपम्। यथा “अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे-  
देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति” (बृ. ३.१.९) इति। न च अध्यासरूपम् यथा  
“मनो ब्रह्मेत्युपासीत” (छां. ३.१८.१), “आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः” (छां. ३.१९.१)  
इति च मन आदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः। नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तम् “वायुर्वाव  
संवर्गः” (छां. ४.३.१) “प्राणो वाव संवर्गः” (छां. ४.३.३) इतिवत्। नापि  
आज्यावेक्षणादि कर्मागसंस्काररूपम्। संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञाने अभ्युपगम्य-  
माने “तत्त्वमसि” (छां. ६.८.७), “अहं ब्रह्मास्मि” (बृ. १.४.१०), “अयमात्मा  
ब्रह्म” (बृ. २.५.१९) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः  
पीड्येत। “भिद्यते हृदयग्रंथिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः” (मुं. २.२.८) इति चैवमादीनि  
अविद्यानिवृत्तिफलश्रवणानि उपरुध्येरन्। “ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति” (मुं. ३.२.९) इति  
चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि संपदादि पक्षे न सामञ्जस्येन उपपद्येरन्। तस्मात् न  
संपदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम्।

१२. ब्रह्म और आत्मा का यह एकत्वज्ञान संपद्रूप नहीं है जैसे ‘अनन्तं वै०’ (मन अनन्त  
है, विश्वेदेव भी अनन्त हैं, (इस प्रकार उपासना करने वाला) अनन्तलोक जीतता है)। ब्रह्मदृष्टि  
अध्यासरूप भी नहीं है, जैसे ‘मनो०’ (मन परब्रह्म है ऐसी उपासना करनी चाहिये), ‘आदित्यो०’  
(आदित्य ब्रह्म है ऐसा उपदेश है)। ना ही वह किसी विशिष्टक्रिया से तादात्म्य रूप है, जैसे कि  
‘वायुर्वाव संवर्गः०’ (वायु ही संवर्ग है) ‘प्राणो वाव०’ (प्राण ही संवर्ग है)। आज्य के अवेक्षण  
आदि के समान कर्मागसंस्काररूप भी नहीं है। क्योंकि ब्रह्म और आत्मा के एकत्वज्ञान को  
सम्पदादिरूप मानें तो ‘तत्त्वमसि’ (वह तू है) ‘अहं ब्रह्मास्मि’ (मैं ब्रह्म हूँ) ‘अयमात्मा ब्रह्म’  
(यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि वाक्य जिनका तात्पर्य ब्रह्म और आत्मा की एकता का प्रतिपादन  
करना है, उनके पदों का अन्वय बाधित होगा। ‘भिद्यते०’ (हृदय की रागादि ग्रन्थियां टूट जाती हैं  
और सब संशय दूर हो जाते हैं) इत्यादि अज्ञाननिवृत्तिरूप फल के बोधक वाक्यों का बाध हो  
जायेगा। ‘ब्रह्म वेद०’ (जो ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है) ऐसे वाक्य तो आत्मा  
का ब्रह्मभाव प्रतिपादन करते हैं, वे सम्पदादि पक्षों में उपपन्न नहीं होते हैं, इसलिए ब्रह्म और  
आत्मा का एकत्व विज्ञान संपदादिरूप नहीं है।

(१२.१) ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है, इतना कहने के बाद अब यह दिखा रहे  
हैं कि यह विज्ञान मानसिक कर्म भी नहीं है। मानसिक कर्म चार प्रकार के होते हैं:

- क. संपद्रूपः- अल्प मन और श्रेष्ठ विश्वेदेवताओं में अनंतत्वरूपी सादृश्य को लेकर मन को विश्वेदेवता मानकर उपासना करना संपद्रूप मानसिक कर्म है।
- ख. अध्यासरूपः- मन, आदित्य आदि में ब्रह्मदृष्टि रखना अध्यासरूप मानसिक कर्म है। यह मिथ्याज्ञान नहीं है। यहाँ अन्तर को जानते हुए भी शास्त्राधारब्रह्मदृष्टि से उनका ध्यान होता है।
- ग. क्रियायोगरूपः-सुषुप्ति में अध्यात्म वागादि प्राण में, और प्रलय में आधिदैविक अग्नि आदि वायु में संवर्ग, यानी लीन हो जाते हैं। इस विशिष्टक्रिया के सादृश्य से प्राण और वायु को एक समझना क्रियायोगरूप मानसिक कर्म है।
- घ. संस्काररूपः-यज्ञ में उपयोग होने वाले घी का जैसे पत्नी वीक्षण करती है, ऐसी कर्मांग संस्काररूप क्रिया।

ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान इनमें से कोई नहीं है, क्योंकि इन चारों में ही द्वैत है। संपद्रूप में अल्पता-श्रेष्ठता है, अध्यास में अतस्मिन् तद्बुद्धि है, क्रियायोगरूप में बाकियों की तरह ज्ञातृ-ज्ञेय विभाग है और संस्काररूप का मानसिक कर्म में होने का संस्कार है। इस द्वैत का ब्रह्मात्मैकत्ववाक्यों के पदों से समन्वय नहीं होता; इसलिये, ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान संपदादिरूप मानसिक क्रिया नहीं हो सकता।

१३. अतः न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या। किं तर्हि, प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तु-ज्ञानवत् वस्तुतन्त्रा। एवंभूतस्य ब्रह्मणः तज्ज्ञानस्य च न कयाचित् युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम्। न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः। “अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि” (के. १.४) इति विदिक्रियाकर्मत्व प्रतिषेधात्, “येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्” (बृ. २.४.१४) इति च। तथा उपास्ति क्रिया-कर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति यद्वाचाऽनुभ्युदितं येन वागभ्युद्यते (के. १.५) इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य “तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते” (के. १.५) इति। अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत्। न। अविद्याकल्पित-भेदनिवृत्तिपरत्वात् शास्त्रस्य। न हि शास्त्रम् इदंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति। किं तर्हि, प्रत्यगात्मत्वेन अविषयतया प्रतिपादयत् अविद्याकल्पितं वेद्य-वेदितृवेदनादि भेदमपनयति। तथा च शास्त्रम् “यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्” (के. २.३), “न दृष्टेर्दृष्टारं पश्येः न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः” (बृ. ३.४.२) इति चैवमादि। अतः अविद्याकल्पितसंसारित्व-निवर्तनेन-नित्यमुक्त-आत्मस्वरूप-समर्पणात् न मोक्षस्य अनित्यत्व दोषः।

१३. इस कारण ब्रह्मविद्या पुरुषव्यापार के अधीन नहीं है। किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विषय वस्तु के ज्ञान के समान वस्तु के ही अधीन है। ऐसे ब्रह्म और उसके ज्ञान की किसी भी युक्ति से कार्य के साथ सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। 'विदि' (जानना) क्रिया के कर्मरूप से भी कार्य के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि 'अन्यदेव०' (वह जाने हुए से अन्य और न जाने हुए से अन्य है) और 'येनेदं०' (जिस (आत्मा) से इस सारे प्रपञ्च को लोक जानते हैं, उसको किस साधन से जानें) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म विदिक्रिया का कर्म नहीं है ऐसा प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार उपासनाक्रिया के कर्मरूप से भी ब्रह्म में कार्यसम्बन्ध का प्रतिषेध होता है—'यद्वाचा०' (जो वाणी से अनुक्त है (अर्थात् वागिन्द्रिय का विषय नहीं है) और जिससे वाणी प्रेरित होती है) इस प्रकार ब्रह्म इन्द्रियों का अविषय है, यह कह कर 'तदेव०' (उसी को तू ब्रह्म जान, उसको नहीं, जिसकी इदं-इस प्रकार से उपासना करते हैं) ऐसा कहा है। यदि ब्रह्म विषय न हो तो ब्रह्म को शास्त्रप्रमाणक कहना अयुक्त होगा ऐसी शंका की तो? नहीं है, क्योंकि अविद्या से कल्पित भेद की निवृत्ति करना ही शास्त्र का प्रयोजन है। शास्त्र ब्रह्म का 'इदं' इस प्रकार ज्ञानविषयत्वरूप से प्रतिपादन करना नहीं चाहता, किन्तु ब्रह्म प्रत्यगात्मा होने के कारण अविषय है ऐसा प्रतिपादन करता हुआ वेद्य (जानने योग्य वस्तु) वेदितृ (जाननेवाला), वेदना (ज्ञान) इत्यादि अविद्यासे कल्पित भेदों को दूर करता है। इसमें प्रमाणवाक्य—'यस्यामतं०' (जिसने नहीं जाना है, उसके लिये जाना गया है, जिसके द्वारा जाना गया है, उसके लिये नहीं जाना गया है, क्योंकि जिनको ब्रह्मज्ञान हो गया है, उनके लिए ब्रह्म अविदित—अर्थात् विषयरूप से अविदित है क्योंकि ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं है और जो अज्ञानी हैं, उनके लिए ब्रह्म विषयरूप से विदित है, क्योंकि वे ब्रह्म को ज्ञानविषय समझ कर मैंने ब्रह्म को जान लिया ऐसा कहते हैं) और 'न दृष्टे०' (दृष्टि-इन्द्रियवृत्ति के साक्षी को तू देख नहीं सकेगा और बुद्धिवृत्ति के साक्षी को तू नहीं जान सकेगा) इत्यादि हैं। अतः अविद्या से कल्पित संसारित्व की तत्त्वज्ञान से निवृत्ति होने से नित्यमुक्त आत्मा का यथार्थ स्वरूपज्ञान होने के कारण मोक्ष में अनित्यत्व दोष नहीं आता।

( १३.१ ) इससे पहले कहा हुआ संपदूपादि मानसिकव्यापार पुरुषतन्त्र है। परन्तु ब्रह्मविद्या ऐसी नहीं है; वह वस्तुतन्त्र है—वस्तु के अधीन है। अर्थात्, वस्तु जैसी है वैसा ही उसे समझना है, घट को घट समझने के समान। 'समझना तो बुद्धिक्रिया है न?' ब्रह्मविषय में वह भी नहीं, क्योंकि 'वह जाने हुये से भिन्न ही है और न जाने हुये से भी परे ही है' (केन १.३)। वह बुद्धि का विषय ही नहीं है। ज्ञाता का स्वरूप ही ब्रह्म होने से उसके विषय में ज्ञानक्रिया नहीं रह सकती। केनोपनिषद् यह स्पष्ट कहता है कि वह उपासना का भी विषय नहीं है।

**प्रश्न:** यदि वह समझने का विषय नहीं है तो पीछे ब्रह्म को शास्त्रप्रमाणक कैसे कहा?

**उत्तर:** शास्त्र भी ब्रह्म को सीधा नहीं समझा सकता। शास्त्र तो केवल वह जो नहीं है उसको देखने वाले को 'वह जिस को देख रहा है वह ब्रह्म नहीं है' इतना ही समझा सकता है। इसी प्रमाण से हमें ब्रह्मविद्या प्राप्त करनी है। ब्रह्मात्मैकत्व जिसमें नहीं है वही 'जिसमें वह नहीं है' उसमें 'उसे' देखता है (अतस्मिन् तद् बुद्धि)। इसमें वेद्य-वेदित-वेदन भेद है। इसलिये, यह भेद अविद्याकल्पित है। शास्त्र केवल इसकी निवृत्ति के लिये ही प्रवृत्त है। इस प्रकार नित्यमुक्त आत्मा का स्वरूप जानना ही मोक्ष होने से वह अनित्य नहीं, नित्य ही है।

( १३.२ ) यहाँ हमें 'अविद्याकल्पितं वेद्यवेदित्वेदनादिभेदम् अपनयति' इस वाक्य पर ध्यान देना है। वेद्य-वेदित-वेदन इन तीनों में एक भी अविद्याकल्पित नहीं है। अज्ञानी उनमें जो भेद देखता है वह भेद अविद्याकल्पित है, क्योंकि वह विकारमात्र को पहचानकर भेद को देखता और भेद को ही समझता भी है। ज्ञानी भेद देखने पर भी परमार्थदृष्टि से एकत्व को समझता है। 'बाह्याकार भेदबुद्धिनिवृत्तिः एव आत्मस्वरूपालम्बने कारणम्'—बाह्य नानाकार भेदबुद्धि की निवृत्ति ही आत्मस्वरूप का आश्रय लेने में कारण है (गी.भा. १८.५०)

१४. यस्य तु उत्पाद्यो मोक्षः तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षते इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च। तयोः पक्षयोः मोक्षस्य ध्रुवम् अनित्यत्वम्। न हि दध्यादि विकार्यम् उत्पाद्यं वा घटादि नित्यं दृष्टं लोके। न च आप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा। स्वात्मरूपत्वे सति अनाप्यत्वात्। स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वम्। सर्वगतत्वेन नित्याप्त-स्वरूपत्वात् सर्वेण ब्रह्मणः आकाशस्येव। नापि संस्कार्यो मोक्षः येन व्यापारम् अपेक्षेत। संस्कारो हि नाम संस्कारस्य गुणाधानेन वा स्यात्, दोषापनयनेन वा। न तावत् गुणाधानेन संभवति, अनाधेय अतिशय ब्रह्मस्वरूपत्वात् मोक्षस्य। नापि दोषापनयनेन, नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वात् मोक्षस्य।

१४. जिसके मत में मोक्ष उत्पाद्य है, वह मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाओं की अपेक्षा रखता है यह युक्त है। इसी प्रकार जिसके मत में मोक्ष विकार्य है, उसके मत में भी। इन दोनों पक्षों में मोक्ष की अनित्यता निश्चित है। लोक में विकृत होने वाले दही आदि, या उत्पन्न होने वाले घट आदि नित्य देखने में नहीं आते। और जिस मत में ब्रह्म प्राप्य है, उस मत में भी उसको कार्य (कर्म) की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि वह स्वात्मरूप होने के कारण प्राप्य ही नहीं है। यदि आत्मा से अतिरिक्त मानें तो भी ब्रह्म प्राप्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म आकाश के समान सर्वत्र

व्यापक होने के कारण सबको नित्यप्राप्त है। और मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है कि वह व्यापार की अपेक्षा करे। संस्कार्य पदार्थ में गुण मिलाने से अथवा दोष दूर करने से संस्कार होता है। (मोक्ष में) गुण मिलाने से संस्कार होना संभव नहीं है, क्योंकि वह तो जिसमें अतिशय न किया जा सके ऐसे ब्रह्म का स्वरूपभूत है। दोष दूर करने से भी उसका संस्कृत होना असम्भव है, क्योंकि मोक्ष नित्यशुद्ध ब्रह्म का स्वरूपभूत है।

( १४.१ ) कर्मफल चतुर्विध होता है:-उत्पाद्य, विकार्य, आप्य और संस्कार्य। मोक्ष इनमें से कोई भी नहीं है।

**उत्पाद्य:** घट के समान उत्पन्न होने वाला। मोक्ष यदि इस प्रकार उत्पन्न होने वाला होता तो वह पहले नहीं रहता, और कुछ समय के बाद नाश को भी प्राप्त हो जाता। ऐसा होने पर वह अनित्य होगा। नित्य होने के कारण मोक्ष उत्पाद्य नहीं हो सकता।

**विकार्य:** जैसे दूध दही होकर, बदलकर प्रकट होता है। मीमांसकों के अनुसार, कर्मोपासना तथाकथित अपूर्वरूप में परिणामित होकर कर्मफल के रूप में प्रकट होती है। ऐसा मोक्ष भी अनित्य ही होगा।

**आप्य:** स्वर्गादि के समान और कहीं जाकर प्राप्त होने वाला कर्मफल। मोक्ष अपना स्वरूप ही होने से आप्य नहीं है। इतना ही नहीं, स्वरूप से अलग होने पर भी आप्य नहीं होगा क्योंकि ब्रह्मरूप मोक्ष सर्वव्यापक है।

**संस्कार्य:** अनुपस्थित गुणों को जोड़ने, या उपस्थित दोषों को निकालने रूपी कर्मों से प्राप्त होनेवाला। ब्रह्म अतिशयस्वरूप होने के कारण उसमें कुछ भी नया गुण जोड़ना संभव नहीं है, और निर्दोष होने के कारण कुछ निकालना भी संभव नहीं है। इसलिये, मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है।

आगे संस्कार्यत्व निराकरण का और दीर्घ विश्लेषण करते हैं:-

१५. स्वात्मधर्म एव सन् तिरोभूतो मोक्षः क्रियया आत्मनि संस्क्रियमाणे अभिव्यज्यते। यथा आदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्मः इति चेत्? न। क्रियाश्रयत्व अनुपपत्तेः आत्मनः। यदाश्रया क्रिया तम् अविकुर्वती नैव आत्मानं लभते। यदि आत्मा क्रियया विक्रियेत, अनित्यत्वम् आत्मनः प्रसज्येत। “अविकार्योऽयमुच्यते” (गी. २. २५) इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तच्च अनिष्टम्। तस्मात् न स्वाश्रया क्रिया आत्मनः संभवति। अन्याश्रयायास्तु क्रियायाः अविषयत्वात् न तथा आत्मा संस्क्रियते। ननु देहाश्रयया स्नान-आचमन-यज्ञोपवीतादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः? न। देहादि संहतस्यैव अविद्यागृहीतस्य आत्मनः संस्क्रियमाणत्वात्। प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेः

देहसमवायित्वम्। तथा देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चित् अविद्यया आत्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियते इति युक्तम्। यथा देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलम् “अहमरोगः” इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते। एवं स्नान-आचमन-यज्ञोपवीतादिना अहं शुद्धः संस्कृतः इति यत्र बुद्धिः उत्पद्यते स संस्क्रियते। स च देहेन संहत एव। तेनैव हि अहंकरा अहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रियाः निर्वर्त्यन्ते। तत्फलं च स एव अश्नाति। “तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति” (मुं. ३.१.१) इतिमन्त्रवर्णात्, “आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः” (क. १.३.४) इति च। तथा च “एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा, कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च” (श्वे. ६.११) इति। “स पर्यगात् शुक्रमकायमव्रणम् अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्” (ई. ८) इति चैतौ मन्त्रौ अनाधेय अतिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः। ब्रह्मभावश्च मोक्षः। तस्मात् न संस्कार्योऽपि मोक्षः। अतोऽन्यन् मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेश-द्वारं न शक्यं केनचित् दर्शयितुम्। तस्मात् ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गंधमात्रस्यापि अनुप्रवेशः इह नोपपद्यते।

१५. जैसे निघर्षण क्रिया से साफ होकर दर्पण का तिरोहित भास्वरत्व प्रकट होता है, उसी प्रकार क्रिया से आत्मा में संस्कार होने से उसका तिरोहित धर्म मोक्ष प्रकट हो सकता है न? न। आत्मा को क्रिया का आश्रय मानना ठीक नहीं है। वस्तुतः जिस आश्रय में क्रिया रहती है, उसको विकृत किये बिना स्वयं रह नहीं सकती। यदि आत्मा क्रिया से विकार को प्राप्त होता हो तो अनित्य हो जायेगा। ‘अविकार्यो’ (यह आत्मा अविकारी है) इत्यादि वाक्यों का बाध होगा। यह इष्ट नहीं है। इसलिये, आत्मा का आश्रय लेकर क्रिया का रहना सम्भव नहीं है। दूसरे का आश्रय करके रहने वाली क्रिया का आत्मा विषय नहीं है अर्थात् सम्बन्धी नहीं है, अतः उस क्रिया से आत्मा का संस्कार नहीं हो सकता। देह में होनेवाली स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत आदि क्रियाओं से देही (आत्मा) का संस्कृत होना देखने में आता है न? नहीं। देह आदि से जुड़े हुए अविद्यावान् को ही संस्कार होता है। स्नान, आचमन आदि क्रियाओं का देह के साथ संबन्ध प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार कहना युक्त है कि अविद्या से देह को स्वयं मानने वाला ही उस देहाश्रय क्रिया से संस्कृत होता है। जैसे, देहाश्रित चिकित्सानिमित्त से होने वाले धातुसाम्य के द्वारा, उस देह से सम्बद्ध और देह में ‘मैं’ अभिमान रखने वाले को ‘मैं अरोग हूँ’ ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत आदि से ‘मैं शुद्ध हूँ, संस्कृत हूँ’ ऐसी बुद्धि जिसमें उत्पन्न होती है, उसी का

संस्कार होता है। वह तो देह के साथ संबद्ध ही है। अहंप्रत्यय के लिए विषय और प्रत्ययों का आश्रय हुए उस अहंकर्तु से ही सब क्रियाएँ की जाती हैं और उनका फल भी वही भोगता है। इसका प्रमाण है—‘तयोरन्यः०’ (उनमें एक स्वादिष्ट कर्मफल भोगता है और दूसरा न भोगता हुआ देखता रहता है) ‘आत्मेन्द्रिय०’ (शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त जीवात्मा को विद्वान् लोग भोक्ता कहते हैं) इत्यादि वाक्य हैं। इसी प्रकार ‘एको देवः०’ (सब भूतों में रहने वाला एक ही देव, सर्वव्यापक, सब प्राणियों का अन्तरात्मा, कर्मों का अध्यक्ष, सब भूतों का आधार साक्षी, चेतन, एकाकी, निर्गुण है) ‘सपर्यगात्०’ (वह आत्मा सर्वव्यापक, दीप्तिमान, कायरहित, व्रणरहित और पाप से अस्पृष्ट है) ये दोनों मंत्र दिखलाते हैं कि ब्रह्म में किसी तरह के अतिशय का प्रवेश नहीं हो सकता है और वह नित्यशुद्ध है। मोक्ष तो ब्रह्मभाव ही है, अतः वह संस्कार्य भी नहीं है। मोक्ष में इन चारों से भिन्न क्रियासम्बन्ध का मार्ग कोई नहीं दिखा सकता। इसलिये, मोक्ष में ज्ञान के सिवा क्रिया के लेशमात्र का भी सम्बन्ध नहीं बनता।

(१५.१) प्रश्नः गुणों को जोड़ना या दोषों को हटाना मात्र ही संस्कार नहीं होता। निघर्षण से (रगड़-रगड़ कर) बनाये दर्पण के समान संस्कृत आत्मा में क्या मोक्ष प्रकट नहीं हो सकता?

उत्तरः निघर्षण से दर्पण बदलता है; इस प्रकार कर्म से संस्कृत होने वाला आत्मा बदलने से अनित्य ही होगा।<sup>१</sup>

संशयः पोंछने से जो दर्पण में चमक आती है वैसा आत्मा का संस्कार हो तो?

उत्तरः वह संस्कार दर्पण का नहीं होगा। इसी प्रकार जिसमें देहाध्यास है स्नान, आचमन आदि संस्कार उसी के लिये हैं। यही प्राज्ञ है जो अहंप्रत्यय के लिये विषय है और सारे प्रत्ययों का साक्षी है। वही जाग्रत् और स्वप्न में सोपाधिक होकर कर्म करनेवाला और फलभोगने वाला है। लेकिन जो उसका भी साक्षी है, वह आत्मा संस्कार्य नहीं है। असल में तो प्राज्ञ भी संस्कार्य नहीं है; परन्तु उसको ज्ञान नहीं है कि वह स्वयं आत्मा ही है। इस अज्ञान के कारण वह संस्कार से संस्कृत हुआ सा दिखता है। यह अविद्या ही मोक्ष की प्रतिबन्धक है। यह किसी संस्कार से नष्ट नहीं होती। केवल विद्या से ही उसका नाश होता है।<sup>२</sup>

१६. ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया? न, वैलक्षण्यात्। क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुष चित्तव्यापाराधीना च। यथा “यस्यै देवतायै हविः गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्” (ऐ. ब्रा. ३.१.८), “सन्ध्यां मनसा ध्यायेत्” इति

१. प्राचीन काल में धातु को रगड़-रगड़ कर दर्पण बनाये जाते थे। जितना अधिक रगड़ा जाता था उतना ही स्पष्ट प्रतिबिम्ब प्राप्त होता था।

२. यहाँ दर्पण के ऊपर जो धूल पड़ जाती है उसको साफ करने की प्रक्रिया कही जा रही है।



चैवमादिषु। ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं, तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्यम्। पुरुषतन्त्रत्वात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम्। प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयम्। अतः ज्ञानं कर्तुमकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुमशक्यम्। केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्। न चोदनातन्त्रम्, नापि पुरुषतन्त्रम्। तस्मात् मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम्। यथा च “पुरुषो वाव गौतमाग्निः” (छां. ५.७.१) “योषा वाव गौतमाग्निः” (छां. ५.८.१) इत्यत्र योषित्पुरुषयोः अग्निबुद्धिर्मानसी भवति। केवलं चोदनाजन्यत्वात् क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च। या तु प्रसिद्धे अग्नौ अग्निबुद्धिः, न सा चोदनातन्त्रा नापि पुरुषतन्त्रा किं तर्हि, प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैव इति ज्ञानमेवैतत्, न क्रिया। एवं सर्वप्रमाण-विषय-वस्तुषु वेदितव्यम्। तत्रैवं सति यथाभूतं ब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम्। तद्विषये लिङ्गादयः श्रूयमाणा अपि अनियोज्य-विषयत्वात् कुण्ठी भवन्ति, उपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्षण्यादिवत्। अहेय-अनुपादेय वस्तुविषयत्वात्।

१६. ज्ञान मन की क्रिया ही है न? नहीं। क्योंकि क्रिया से विलक्षण है। क्रिया उसको कहते हैं जिसका वस्तुस्वरूप की अपेक्षाके बिना ही विधान किया जाता है और जो पुरुष के सङ्कल्प के अधीन है। जैसे कि-‘यस्यै देवतायै०’ (जिस देवता के लिए (अध्वर्यु ने) हवि का ग्रहण किया हो, उस देवता का (होता) वषट्कार करता हुआ ध्यान करे) ‘सन्ध्यां०’ (सन्ध्या का मन से ध्यान करे) इनमें और इसी प्रकार अन्य स्थलों में (क्रिया का विधान है।) ध्यान अर्थात् चिन्तन यद्यपि मानसिक है, तो भी पुरुष के अधीन होने के कारण वह करने न करने अथवा अन्य प्रकार से करने के योग्य है। ज्ञान तो प्रमाणजन्य है। प्रमाण वस्तु जैसी है वैसा ही उसे विषय करने वाला होता है। इसलिए ज्ञान करने, न करने अथवा अन्य प्रकार से करने के योग्य नहीं हो सकता, वह केवल वस्तु के अधीन है। विधि के योग्य नहीं है और पुरुष के अधीन भी नहीं है। अतः ज्ञान के मानसिक होने पर भी ध्यान से उसका बड़ा भेद है। जैसे ‘पुरुषो०’ (हे गौतम! पुरुष अग्नि है) ‘योषा०’ (हे गौतम, स्त्री अग्नि है) इनमें स्त्री और पुरुष में अग्निबुद्धि मानसिक है। वह केवल विधिजन्य होने के कारण क्रिया ही है और पुरुष के अधीन है। लेकिन प्रसिद्ध अग्नि में जो अग्निबुद्धि होती है, वह न तो विधि के अधीन है और न पुरुष के अधीन है; किन्तु प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु (अग्नि) के अधीन है, अतः वह ज्ञान ही है, क्रिया नहीं है। इसी प्रकार सब प्रमाणों के (अर्थात् अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों के) विषय में समझना चाहिए। इसलिये यथाभूत-जैसा है वैसा समझने का ब्रह्मात्मविषयक ज्ञान भी विधि के अधीन नहीं है। यद्यपि ज्ञान

के बारे में लिङ् आदि प्रत्यय देखे जाते हैं, तो भी नियोग के अयोग्य होने के कारण पत्थर आदि में प्रयुक्त अस्त्र की धार के समान कुण्ठित हो जाते हैं, क्योंकि ब्रह्म न हेय है न उपादेय है।

( १६.१ ) इस परिच्छेद में दिखा रहे हैं कि ज्ञान मानसी क्रिया नहीं है। क्योंकि क्रिया का विधान वस्तुस्वरूप की अपेक्षा नहीं रखता। वस्तुस्वरूपनिरपेक्ष ही होता है, क्रिया चित्तव्यापाराधीन होती है। दृष्टान्त के लिये:- 'मन में देवता का ध्यान करते हुये, होता जैसे ही वषट्कार करे वैसे ही अध्वर्यु हविस अर्पण करें', इस वाक्य में कहा हुआ ध्यान पुरुषतन्त्र है।

**संशय :** इसी वाक्य को उद्धृत करके भाष्यकार ने 'विधिभिः एव इन्द्रादिदेवत्यानि हवींषि चोदयद्भिः अपेक्षितम् इन्द्रादीनां स्वरूपम्। नहि स्वरूपरहिताः इन्द्रादयः चेतसि आरोपयितुं शक्यन्ते'-इन्द्र आदि देवताओं को हवि देने की प्रेरणा करने वाली विधियाँ ही इन्द्रादि के स्वरूप की अपेक्षा रखती हैं। यदि इन्द्रादि देवता वस्तुतः स्वरूपरहित हो तो उनका ध्यान ही नहीं किया जा सकता (सू. भा. १.३.३३), ऐसा कहा है। यहाँ देवतास्वरूपसदृश वृत्ति ही बुद्धि में ले आने के कारण यह ज्ञान ही हुआ न? इसलिए यह वस्तुस्वरूपनिरपेक्ष कैसे हो सकता है? ज्ञान है तो विधि कैसे होगा?

**उत्तर:** ऊपर कहे हुये ध्यान में देवतास्वरूपसदृश को ही कहने पर भी, ध्यान वस्तुस्वरूपसदृश भी हो सकता है और असदृश भी हो सकता है। उदाहरण के लिये, अध्यासरूप ध्यान वस्तुस्वरूप-असदृश ही होता है। यहाँ कथित वस्तुस्वरूपनिरपेक्ष ध्यानविधि का यही अर्थ है। यह ध्यान ज्ञान नहीं है। क्यों ज्ञान नहीं है? देवता को यदि प्रत्यक्ष देख रहे हो तो वह ज्ञान पुरुषतन्त्र नहीं है। परन्तु अप्रत्यक्ष देवतास्वरूप को स्मरण करने की ध्यानक्रिया तो पुरुषतन्त्र है।

**संशय:** घटप्रत्यय विक्रिया ही है। इसलिये, घट को जानना भी क्रिया ही है, यदि ऐसा कहें तो?

**उत्तर:** नहीं। क्योंकि इसमें ज्ञाता का प्रयत्न कुछ भी नहीं है। विषय-इन्द्रियसन्निकर्ष के समय जो विषयसदृश बुद्धिप्रत्यय होता है वह क्षेत्रधर्म है। इसको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ है। जानना क्षेत्रज्ञ की क्रिया नहीं है, उसका स्वभाव है।

**संशय:** प्रत्यक्ष विषय का ज्ञान क्रिया न होने दो। परन्तु अन्य प्रमाणों से अप्रत्यक्ष विषयों को जानते समय तो पुरुष का प्रयत्न आवश्यक दिखता है।

**उत्तर:** ऐसा नहीं है। कोई भी प्रमाण हो, प्रमाणजन्य ज्ञान तो सम्यग्ज्ञान ही होता है। वह पुरुषतन्त्र नहीं होता। परन्तु अप्रत्यक्ष विषयों को समझते समय सम्यग्ज्ञान में विघ्न डालने वाले संशयों को हटाने के लिये पुरुषप्रयत्न चाहिये। लेकिन इस प्रयत्न से ही ज्ञानप्राप्ति हो रही है कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रयत्न का कर्म ज्ञान नहीं, बल्कि संशयनिवारण है। प्रमाण की भूमिका को अलग करके न जानने के कारण ही लोग कहते हैं कि प्रयत्न से ही ज्ञान प्राप्ति होती है, जैसे पकाने के कर्म से भोजन। यह ठीक नहीं है। 'प्राज्ञ

ही ज्ञाता है, और वह निरुपाधिक है' यह स्मरण रखने पर, किसी भी प्रमाण से होनेवाला ज्ञान उसकी (प्राज्ञ की) क्रिया नहीं हो सकता, यह सरलता से समझ आ जायेगा। इसलिये, श्रुतिप्रमाण का विषय ब्रह्मैकत्वज्ञान भी पुरुषतन्त्र नहीं है और चोदनातन्त्र भी नहीं है।

१७. किमर्थानि तर्हि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" (बृ. २.४.५) इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि? स्वाभाविक-प्रवृत्तिविषय-विमुखीकरणार्थानि इति ब्रूमः। योहि बहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः इष्टं मे भूयात्, अनिष्टं मा भूदिति, न च तत्र आत्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते, तम् आत्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविक-कार्यकरणसंघातप्रवृत्ति-गोचरात् विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादीनि। तस्य आत्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्य अहेयमनुपादेयं च आत्मतत्त्वम् उपदिश्यते "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ. २.४.६), "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्", "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (बृ. ४.५.१५), "अयमात्मा ब्रह्म" (बृ. २.५.१) इत्यादिभिः।

१७. तब 'आत्मा वा०' (आत्मा का दर्शन करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए) इत्यादि विधि-से वाक्यों का क्या अर्थ है? विषयों में मनुष्य की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, उससे उसको पराङ्मुख करना ही इनका प्रयोजन है। जो पुरुष बाह्य विषयों में 'इष्ट वस्तु मुझे प्राप्त हो, अनिष्ट प्राप्त न हो' इस प्रकार बहिर्मुख होकर प्रवृत्त होता है, उस (प्रवृत्ति) से परम पुरुषार्थ प्राप्त नहीं कर सकता, उस परम पुरुषार्थ की इच्छा करने वाले को 'आत्मा वा०' (आत्मा का दर्शन करना चाहिए) इत्यादि वाक्य शरीर और इन्द्रियसमूह की स्वाभाविक प्रवृत्ति के विषय (शब्द आदि) से निवृत्त करके उसकी चित्तवृत्ति के प्रवाह को प्रत्यगात्मा की तरफ जैसे हो सके वैसे प्रवृत्त कराते हैं। आत्मस्वरूप के अन्वेषण में प्रवृत्त हुए उस पुरुष को 'इदं सर्वं०' (यह जो कुछ है सब आत्मस्वरूप है) 'यत्र त्वस्य०' (परन्तु जब उसके लिए सब आत्मरूप हो गया, तब वह किस साधन से किसको देखे और किससे किसको जाने) 'विज्ञातार०' (जो जाननेवाला है, उसको किससे जाना जाय) 'अयमात्मा०' (यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियां अहेय और अनुपादेय आत्मतत्त्व का उपदेश करती हैं।

(१७.१) विधिच्छायानि: कुर्यात्-करना; क्रियेत-करो; कर्तव्यम्-करने योग्य। ये क्रम से लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय विधि अर्थ में हैं। द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य, निदिध्यासितव्य-दर्शन करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये, निदिध्यासन करना चाहिये। इनमें तव्य प्रत्यय विधि अर्थ में होने

पर भी आत्मा के विषय में उपयोग करते समय विधि अर्थ में नहीं हो सकता। इसीलिये, 'विधि-सा' कहा है। इनका उद्देश्य क्या है? सुखप्राप्ति और दुःखनिवारण के लिये मनुष्य स्वाभाविक प्रयत्न करते हुये बहिर्मुख रहता है। आत्यन्तिक पुरुषार्थ चाहने वाला मुमुक्षु यह जानता है कि सुख बाहर नहीं मिलता। फिर भी, आत्मान्वेषण में व्यस्त होने पर भी, वासनाबल से उसका मन बाहर जाता ही है, जिससे उसके शरीरादि प्रवृत्त होते रहते हैं। उन विषयों से प्रत्यङ्मुख करके उसे आत्मा की ओर मोड़ना है। यह आत्मा कौन है? जो यह सब कुछ है वही आत्मा है। अतः, इस सर्वात्मा को स्वयं समझने से मन का बाह्यसंचार रुक जाता है। इस आत्मा की ओर चित्तवृत्ति का प्रवाह मोड़ने के लिये ही श्रुति इन वचनों को कहती है। इस विषय की शेष चर्चा आखिरी परिच्छेद में की जायगी।

**१८. यदपि अकर्तव्यप्रधानम् आत्मज्ञानं हानाय उपादानाय वा न भवति इति, तत् तथैव अभ्युपगम्यते। अलंकारो ह्ययम् अस्माकं यत् ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यता हानिः कृतकृत्यता च इति। तथा च श्रुतिः “आत्मानं चेद्विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः, किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्चरेत्” (बृ. ४.४.१२) इति। “एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत” (गी. १५.२०) इति स्मृतिः। तस्मात् न प्रतिपत्ति-विधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्।**

१८. (और जो यह आक्षेप है कि) कर्तव्यरहित आत्मज्ञान में कुछ भी त्यागना या स्वीकारना नहीं है, हम भी उसका अंगीकार करते हैं। ब्रह्म और प्रत्यगात्मा के ऐक्यज्ञान होने पर सब कर्तव्य कर्म नष्ट हो जाते हैं, और कृतार्थता हो जाती है यह कथन हम वेदान्तियों के लिए भूषण है। इस विषय में 'आत्मानं०' (यह आत्मा 'मैं हूँ' ऐसा जो पुरुष जान लेता है, वह किस फल की इच्छा से और किसके भोग के लिए सन्तप्त होता हुआ शरीर के पीछे स्वयं सन्तप्त हो) यह श्रुति और 'एतद् बुद्ध्वा०' (हे अर्जुन! इस गुह्यतम तत्त्व को जानकर पुरुष ज्ञानी और कृतार्थ हो जाता है) यह स्मृति प्रमाण है। इस कारण वेदान्त उपासनाविधि के विषयत्वरूप से ब्रह्म का बोध नहीं कराते हैं।

( १८.१ ) 'ब्रह्मात्मभाव हानोपादान रहित है', यह कहना सिद्धान्त का दूषण नहीं भूषण है। मनुष्य के आनन्द से लेकर ब्रह्माजी के आनन्द तक सबका आनन्द जिस आनन्द का अंश है, वह आनन्द ही अपना हो जाने के बाद हानोपादान कैसे रह सकते हैं? 'इस स्वरूपानन्द से परे कोई आनन्द नहीं', यह सूचना तो हमें सुषुप्ति में मिल ही रही है—'एषः अस्य परम आनन्दः' (बृ. ४.३.३२)। क्योंकि ऐसा है, इसीलिये ब्रह्मात्मभावप्राप्ति से कृतकृत्य हुये मनुष्य का कर्मोपासनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

**१९. यदपि केचिदाहुः प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवल वस्तुभागे**

नास्तीति, तन्न। औपनिषदस्य पुरुषस्य अनन्यशेषत्वात्। योऽसौ उपनिषत्स्वेव अधिगतः पुरुषः असंसारी ब्रह्म उत्पाद्यादि-चतुर्विध-द्रव्यविलक्षणः स्वप्रकरणस्थः अनन्यशेषः नासौ नास्ति नाधिगम्यते इति वा शक्यं वदितुम्। “स एष नेति नेत्यात्मा” (बृ. ३.९.२६) इति आत्मशब्दात्। आत्मनश्च प्रत्याख्यातुं अशक्यत्वात्। य एष निराकर्ता तस्यैव आत्मत्वात्। ननु आत्मा अहंप्रत्ययविषयत्वात् उपनिषत्स्वेव विज्ञायते इति अनुपपन्नम्? न, तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्। न हि अहंप्रत्यय विषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः समः एकः कूटस्थनित्यः पुरुषः विधिकान्डे तर्कसमये वा केनचित् अधिगतः सर्वस्य आत्मा। अतः स न केनचित् प्रत्याख्यातुं शक्यः विधिशेषत्वं वा नेतुम्। आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयः नापि उपादेयः। सर्वं हि विनश्यत विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति। पुरुषो विनाशहेत्वभावात् अविनाशी। विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः, अत एव नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः। तस्मात् “पुरुषान्नपरं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः” (क. १.३.११), “तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि” (बृ. ३.९.२६) इति च औपनिषदत्वविशेषणं पुरुषस्य उपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाशयमानत्वे उपपद्यते। अतः भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम्।

१९. कोई जो यह कहते हैं कि प्रवृत्तिविधि, निवृत्तिविधि और उनके अङ्ग से अतिरिक्त केवल वस्तु का प्रतिपादन करने वाला वेदभाग नहीं है, उनका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि उपनिषद् से ज्ञेय पुरुष अन्य का शेष नहीं होता। केवल उपनिषदों से ही ज्ञात जो असंसारी पुरुष (ब्रह्म) है, वह उत्पाद्य आदि चार प्रकार के द्रव्यों से विलक्षण है और अपने ही प्रकरण में स्थित है, अन्यशेष नहीं है—वह नहीं है अथवा नहीं जाना जाता, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ‘स एष०’ (यह नहीं, यह नहीं, इस प्रकार जो आत्मा उपदिष्ट है, वह यह है) इस श्रुति में आत्मशब्द है, अतः आत्मा का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो निषेध करने वाला है, वही आत्मा है। (संशय): आत्मा ‘मैं’ इस प्रत्यय का विषय होने से उपनिषदों से ही जाना जाता है, यह कथन अयुक्त है न? ऐसा नहीं, क्योंकि बताया है कि आत्मा उसका साक्षी है। ‘मैं’ इस प्रत्यय का विषय जो कर्ता है, उससे भिन्न उसका साक्षी, सब भूतों में स्थित, सम, एक, कूटस्थ नित्य, पुरुष और सबका आत्मा कर्मकाण्ड में अथवा तर्कशास्त्र में किसी से जाना नहीं गया है। इसलिए उसका कोई निराकरण नहीं कर सकता और न वह विधि का अङ्ग ही ठहराया जा सकता है। वह सबका आत्मा है, इससे वह न हेय है न उपादेय है। पुरुष को छोड़कर और सभी विकारी पदार्थ विनाशी

हैं। पुरुष तो अविनाशी है, क्योंकि उसका नाश नहीं है, कूटस्थ नित्य है, क्योंकि उसमें विकार का कोई कारण नहीं है और इसलिये ही नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध एवं नित्यमुक्त स्वभाव है। इस कारण 'पुरुषान्न परं०' (पुरुष से परे कुछ नहीं है, वह सबकी अवधि है, वही परम पुरुषार्थ है)। और 'तं त्वौप०' (उस उपनिषद्गम्य पुरुष को मैं आपसे पूछता हूँ) इस श्रुति में पुरुष का 'औपनिषद्म्' यह विशेषण उपनिषदों से ही मुख्यतया पुरुष का ज्ञान मानने पर उपपन्न होता है। इसलिए, वेदभाग सिद्धवस्तु का प्रतिपादन नहीं करता है यह कथन साहसमात्र है।

(१९.१) कर्म से असम्बन्धित किसी विषय को वेद नहीं कहता, यह कथन ठीक नहीं है। उपनिषद् ऐसे पुरुष का वर्णन करते हैं। 'कर्म से सम्बन्धित न होने के कारण उपनिषद् ही उसको समझाते हैं' यह यहाँ सप्रमाण सिद्ध किया गया है।

'ननु आत्मा अहंप्रत्ययविषयत्वात्...' इस वाक्य की विमर्शा अध्यासभाष्य के व्याख्यान में की गयी है। (२५.१)

**सन्देहः** अभी तक प्रत्यगात्मा को 'अस्मत्प्रत्ययगोचर'- अपरोक्ष होने के कारण प्रसिद्ध कहा गया है; फिर यहाँ एकदम से 'उपनिषत्सु एव विज्ञायते'-उपनिषदों में ही जाना जाता है कैसे कह दिया?

**उत्तरः** ऐसा नहीं है। शुरु से अस्मत्प्रत्ययगोचर कहकर समझाया हुआ प्रत्यगात्मा क्षेत्रज्ञ है। यह प्राज्ञ संस्कार को पा सकने वाला, कर्ता, भोक्ता होकर कर्मकाण्ड या तर्कशास्त्र में कहा हुआ प्रत्यगात्मा है। यह एक नहीं, हरेक क्षेत्र में अलग-अलग है। अभी बताया गया औपनिषद् पुरुष सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्ष, सर्वभूताधिवास, साक्षी चेतन है; वह एक ही और निर्गुण है, ऐसा कह चुके हैं। इसलिये, भूतवस्तुपर वेदभाग नहीं है यह कहना ठीक नहीं है।

२०. यदपि शास्त्रतात्पर्यविदाम् अनुक्रमणम् "दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्" (शा. भा. १.१.१) इत्येवमादि, तत् धर्मजिज्ञासाविषयत्वात् विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम्। अपि च "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यम् अतदर्थानाम्" (जै. सू. १.२.१) इत्येतत् एकान्तेन अभ्युपगच्छतां भूतोपदेश आनर्थक्य प्रसंगः। प्रवृत्तिनिवृत्तिविधिव्यतिरेकेण भूतं चेत् वस्तु उपदिशति भव्यार्थत्वेन, कूटस्थं नित्यं भूतं नोपदिशति इति को हेतुः? न हि भूतम् उपदिश्यमानं क्रिया भवति। अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वात् क्रियार्थ एव भूतोपदेशः इति चेत्? नैष दोषः। क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तन शक्तिमद् वस्तु उपदिष्टमेव। क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य। न च एतावता वस्तु अनुपदिष्टं भवति। यदि नाम उपदिष्टं किं तव तेन स्यादिति? उच्यते। अनवगत-आत्मवस्तूपदेशश्च तथैव

**भवितुमर्हति। तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोः निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियते इति अविशिष्टम् अर्थवत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन।**

२०. शास्त्र का तात्पर्य जाननेवालों के 'दृष्टो हि०'-कर्म का बोध कराने में उनका उपयोग है- इत्यादि धर्मजिज्ञासा के विषय होने के कारण विधि-प्रतिषेध शास्त्र का अभिप्राय हैं-ऐसा समझना चाहिए। और 'आम्नायस्य'-वेद क्रियार्थक हैं, अतः अक्रियार्थक वाक्य अनर्थक हैं-इस न्याय को नियम माननेवालों के मत में (दधि, सोम इत्यादि) सिद्धवस्तुओं के उपदेशवाचक पद अनर्थक होंगे। यदि प्रवृत्तिविधि और निवृत्तिविधि से अतिरिक्त सिद्धवस्तु का भी, वह धर्म के लिए उपयोगी है इस कारण से शास्त्र उपदेश करता है, तो कूटस्थ नित्य सिद्धवस्तु का उपदेश क्यों नहीं करेगा? उपदिष्ट होनेवाली सिद्धवस्तु केवल उपदेश से ही क्रिया नहीं हो जाती। सिद्धवस्तु भले ही क्रिया न हो, किन्तु क्रिया के साधन होने के कारण उसका उपदेश क्रियार्थक ही है ऐसा कहा तो? यह दोष नहीं है, क्योंकि सिद्धवस्तु क्रियार्थक यद्यपि है, तो भी शास्त्र से केवल वस्तु का ही उपदेश होता है वह वस्तु वस्तुतः कार्योत्पादन शक्ति से युक्त होती है। क्रियार्थत्व तो उसका प्रयोजन है। यदि (दधि आदि) सिद्धपदार्थ को कार्यशेष मानें तो भी यह नहीं कह सकते कि वह पदार्थ (दधि आदि शब्द से) उपदिष्ट नहीं है। यदि सिद्धवस्तु का उपदेश होता भी हो, तो तुमको क्या लाभ होगा? (सिद्धान्ती) कहते हैं (दधि आदि पदार्थों की तरह) अज्ञात आत्मवस्तु का भी शास्त्र से उपदेश होना ठीक ही है। उसके ज्ञान से संसार के कारणभूत मिथ्याज्ञान का नाश होता है, इस कारण क्रिया के साधनवस्तु के उपदेश के समान आत्मवस्तु का उपदेश भी सार्थक है।

( २०.१ ) पिछले परिच्छेद में 'वेद भूतवस्तु का वर्णन करते ही नहीं है', यह आक्षेप तिरस्कृत हुआ। अब मीमांसकों की युक्तियों से ही यह दिखाते हैं कि क्रियासम्बन्धरहित वस्तु को भी वेद कह सकता है। क्रियानिराकरणवाक्य विधि-निषेधशास्त्र तक सीमित हैं। परन्तु वही वेदभाग भूतवस्तु को भी कहता है। 'दध्ना जुहोतिः -दही से हवन करें', वाक्य में दही भूतवस्तु है। यूप, आहवनीय इत्यादि भी उसी प्रकार भूतवस्तु हैं। लोक के पद-पदार्थों का आश्रय लिये बिना अज्ञात विषयों को वेद भी नहीं समझा सकता। इसके ऊपर 'लेकिन इनको भी क्रिया के लिये ही तो समझाते हैं', ऐसा आक्षेप किया जाये तो उत्तर है: 'ठीक है, वर्णित वस्तु का प्रयोजन क्रिया होने पर भी भूतवस्तु को समझाता है यह अनिराकरणीय है।' इसलिये, किसी अप्रयोजक भूतवस्तूपदेश का निराकरण कर सकते हैं, सप्रयोजक वस्तूपदेश का नहीं।

**प्रश्न:** यदि ऐसा है तो क्रियासम्बन्धरहित आत्मवस्तूपदेश का क्या प्रयोजन हो सकता है?

**उत्तर:** उसका प्रयोजन है संसार का हेतु जो मिथ्याज्ञान है उसकी निवृत्ति करना।

२१. अपि च “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इत्येवमाद्या निवृत्तिः उपदिश्यते। न च सा क्रिया, नापि क्रियासाधनम्। अक्रियार्थानामुपदेशः अनर्थकश्चेत् “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इत्यादि निवृत्त्युपदेशानाम् आनर्थक्यं प्राप्तम्। तच्च अनिष्टम्। न च स्वभावप्राप्त-हन्त्यर्थ-अनुरागेण नञः शक्यम् अप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं हनन-क्रियानिवृत्ति-औदासीन्यव्यतिरेकेण। नञश्च एष स्वभावः यत् स्वसंबन्धिनोऽभावं बोधयति इति। अभावबुद्धिश्च औदासीन्यकारणम्। सा च दग्धेन्धनाग्निवत् स्वयमेव उपशाम्यति। तस्मात् प्रसक्तक्रियानिवृत्ति-औदासीन्यमेव “ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः। तस्मात् पुरुषार्थ-अनुपयोगि-उपाख्यानादि-भूतार्थ-वादविषयम् आनर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम्।

२१. और ‘ब्राह्मणो०’ (ब्राह्मण का हनन नहीं करना चाहिए) इत्यादि निवृत्ति का उपदेश किया जाता है। वह न तो क्रिया है न क्रियासाधन है। यदि अक्रियार्थक वाक्यों का उपदेश अनर्थक हो, तो ‘ब्राह्मणो का हनन नहीं करना’ इत्यादि निवृत्ति का उपदेश व्यर्थ हो जायेगा। उसका व्यर्थ होना इष्ट नहीं है। रागतः प्राप्त हननक्रिया के साथ सम्बन्ध होने से हननक्रिया से निवृत्त होकर औदासीन्य स्वीकार करना ही नञ् का अर्थ है। इस अर्थ से भिन्न लक्षणा द्वारा अहनन संकल्प आदि अप्राप्त क्रियारूप नञ् के अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। अपने संबन्धीपदार्थ के अभाव का बोध कराना नञ् का स्वभाव है। अभावज्ञान औदासीन्य का कारण है। जिस प्रकार अग्नि लकड़ी को जलाकर स्वयं बुझ जाती है, उसी प्रकार वह ज्ञान राग का नाश करके अपने आप शान्त हो जाता है। इस कारण प्रजापतिव्रत आदि को छोड़ कर ‘ब्राह्मणों का हनन नहीं करना’ इत्यादि स्थलों में प्रकरणप्राप्त क्रिया से निवृत्त होकर औदासीन्य स्वीकार करना ही ‘नञ्’ इस प्रतिषेध का अर्थ है ऐसा हम मानते हैं। इस कारण पुरुषार्थ के अनुपयोगी उपाख्यान आदि भूतार्थवाद (‘आम्नायस्य०’ इस सूत्र से) अनर्थक कहे गये हैं ऐसा समझना चाहिए।

( २१.१ ) ‘आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्.....’ (जैमिनी. सू. १.२.१) से मीमांसा में कहा जाता है कि क्रियासम्बन्धरहित वस्तुपदेश निरर्थक है। इसके ऊपर सिद्धान्ती का प्रत्याक्षेप इस प्रकार है: प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले विधिवाक्यों के विषय में तो यह ठीक है, परन्तु निवृत्ति अर्थ में कहे हुये निषेधवाक्यों में भी तो क्रियासम्बन्ध नहीं है न?

**पूर्वपक्षी:** वहां भी क्रियासम्बन्ध है। उदाहरण के लिये, प्रजापतिव्रत में ब्रह्मचारी के लिये उदय या अस्त होते सूर्य के दर्शन का निषेध किया है। भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी में चन्द्रदर्शन का निषेध पुराण करते हैं। इनमें सूर्य और चन्द्र के दर्शन न करने के लिये प्रयत्न करना ही क्रियासम्बन्ध है।



सिद्धान्ती:—‘ब्राह्मण को मारना नहीं चाहिये’ यह निषेधवाक्य क्रिया भी नहीं, क्रियासाधन भी नहीं।

पूर्वपक्षी:—न मारने के लिये करने के प्रयत्न को ही क्रियासम्बन्ध कहें तो?

सिद्धान्ती:—परन्तु यह वाक्य तो उस प्रयत्न की विधि नहीं करता। न मारने की बुद्धि पैदा करना ही इस वाक्य का एकमात्र प्रयोजन है। बाद में यह बुद्धि भी शान्त हो जाती है। कैसे? हननप्रवृत्ति को यदि हम लकड़ी मानें तो यह बुद्धि आग जैसी है। आग लकड़ी को जलाने के बाद जैसे स्वयं भी शान्त हो जाती है; उसी प्रकार, हननप्रवृत्ति को निवारित करके यह बुद्धि भी फिर शान्त होकर औदासीन्य का कारण होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्मकाण्ड में भी ऐसे सप्रयोजक वाक्य हैं जो क्रियासम्बन्ध से रहित हैं। उसी प्रकार, संसारनिवर्तक मिथ्याज्ञान के नाशरूपी प्रयोजन के लिये ज्ञानकाण्ड में ब्रह्मवाक्य रहना कर्मकाण्ड के विरुद्ध नहीं है।

२२. यदप्युक्तम् कर्तव्यविध्यनुप्रवेशम् अन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानम् अनर्थकं स्यात् “सप्तद्वीपा वसुमती” इत्यादिवत् इति, तत्परिहृतम्। “रज्जुरियं नायं सर्पः” इति वस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात्। ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्वदर्शनात् न रज्जुस्वरूपकथनवत् अर्थवत्त्वमित्युक्तम्? अत्रोच्यते। न अवगत-ब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुम्, वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात्। न हि शरीराद्यात्माभिमानिनः दुःखभयादिमत्त्वं दृष्टमिति तस्यै वेदप्रमाणजनित-ब्रह्मात्मावगमे तदभिमान निवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम्। न हि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनः धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं भवति। न च कुंडलिनः कुंडलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुंडलवियुक्तस्य कुंडलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुंडलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति। तदुक्तं श्रुत्या “अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः” (छां. ८.१२.१)।

२२. कर्तव्यविधि के साथ संबन्ध के बिना ही कहे जानेवाले केवल पदार्थ, ‘सप्तद्वीपा०’ (सात द्वीपवाली पृथिवी) इत्यादि कथन के समान निरर्थक हैं ऐसा जो कहा है, उसका ‘यह रज्जु है, सर्प नहीं है’ इस प्रकार वस्तुमात्र के कथन से भी प्रयोजन देखने में आता है इत्यादि कह कर निराकरण किया गया है। जिसने ब्रह्म का श्रवण किया है, उसमें भी पहले के समान संसारित्व देखने में आता है, इस कारण रज्जुस्वरूप के कथन के समान ब्रह्मस्वरूप का कथन सार्थक नहीं है (ऐसी पीछे जो शङ्का की गई है) उसके उत्तर में कहते हैं:— जिसको ‘मैं ब्रह्म हूँ’ ऐसा अनुभव

हो गया है वह पहले के समान संसारी है, ऐसा नहीं दिखा सकते, क्योंकि वेदप्रमाण से उत्पन्न ब्रह्मात्मभाव से संसारित्व का विरोध है। शरीर आदि में आत्मबुद्धि रखनेवाले पुरुष में दुःख, भय आदि देखने में आते हैं, तो वेदप्रमाण से उसी पुरुष को 'ब्रह्म आत्मा है' ऐसा ज्ञान होने पर, उस बुद्धि की निवृत्ति हो जाने से, मिथ्याज्ञान से होने वाले दुःख, भय आदि उसमें हो सकते हैं ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। यह धन मेरा है ऐसा अभिमान करनेवाले धनी गृहस्थ को उस धन की चोरी से दुःख होना देखा जाता है, यदि वही पुरुष संसार का त्याग कर दे और धन में अभिमान छोड़ दे, तो उसे उस धन की चोरी से होने वाला दुःख नहीं होता। इसी प्रकार कुण्डल पहननेवाले में 'मैंने कुण्डल पहन रखे हैं' इस अभिमान से उत्पन्न होनेवाला सुख देखने में आता है; यदि वही पुरुष कुण्डलरहित हो और उसे कुण्डलत्वाभिमान न हो तो 'कुण्डल पहने हैं' इस अभिमान से उत्पन्न होनेवाला वही सुख उस पुरुष को नहीं होता। यही बात 'अशरीरं०' (अशरीर को सुख और दुःख स्पर्श नहीं करते) इस श्रुति से भी कही गई है।

( २२.१ ) पीछे यह आक्षेप उठाया गया था कि 'सप्तद्वीपा वसुमती' के समान वस्तुमात्रकथन से कोई प्रयोजन नहीं है। प्रत्याक्षेप के रूप में कहा गया था कि 'रज्जुमात्र के कथन से भी सर्पमति के नाश का प्रयोजन है'। यहाँ इसको और भी आगे ले जाकर ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान से होनेवाले संसारित्वनाश के स्वरूप को दिखा रहे हैं। 'ब्रह्मज्ञानी भी अन्य लोगों के समान व्यवहार करता ही है।' यह व्यवहार क्यों होता है? ज्ञानी का भी मन प्रारब्ध से बहिर्मुख होता रहता है। 'शरीरारम्भक कर्म का फल निश्चित होने के कारण सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी वाणी, मन और शरीर की चेष्टा अवश्यम्भाविनी है, क्योंकि जो कर्म फलोन्मुख हो चुका है वह तो छूटे हुये बाण की प्रवृत्ति के समान अधिक बलवान् है—**शरीरारम्भकस्य कर्मणो नियतफलत्वात् सम्यग्ज्ञानप्राप्तौ अपि अवश्यम्भाविनी प्रवृत्तिः वाङ्मनःकायानाम् लब्धवृत्तेः कर्मणो बलीयस्त्वात् मुक्तेष्वदिप्रवृत्तिवत्**' (बृ.भा.१.४.७)।

**प्रश्न:** यदि ऐसा है तो क्या इसको अविद्यालेश कहेंगे? क्या विदेहमुक्ति ही सम्यक् मुक्ति है?

**उत्तर:** ऐसा नहीं है। शरीरादि का व्यवहार होते रहने पर भी ब्रह्मात्मज्ञान के कारण उससे असम्बन्ध अनुभव में रहता है। अननुभवी व्यक्तियों द्वारा अगर इसमें कोई विरोध देखा जाता है तो उसमें अर्थ नहीं है। इस प्रकार, शरीर के जीवित रहते समय भी, उसमें अध्यास छोड़ा हुआ होने के कारण, इस अशरीरी को प्रियाप्रिय का स्पर्श नहीं होता।

इसका अनुमोदन न करने वाले पूर्वपक्षी का आक्षेप और उसका समाधान इस प्रकार है:-

**२३. शरीरे पतिते अशरीरत्वं स्यात् न जीवतः इति चेत्? न, सशरीरत्वस्य**

मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्। न हि आत्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वा अन्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्। नित्यं अशरीरत्वं अकर्मनिमित्तत्वादिति अवोचाम। तत्कृत धर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेत्? न, शरीरसंबन्धस्य असिद्धत्वात् धर्माधर्मयोः आत्म-कृतत्वासिद्धेः। शरीरसंबन्धस्य धर्माधर्मयोः तत्कृतस्य च इतरेतराश्रयत्वप्रसंगात् अन्ध-परंपरा एषा अनादित्वकल्पना। क्रियासमवायाभावाच्च आत्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः। सन्निधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वम्, इति चेत्? न, धनदानादि-उपार्जित भृत्य-संबन्धित्वात् तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः। न तु आत्मनः धनदानादिवत् शरीरादिभिः स्वस्वामि-संबन्धनिमित्तं किञ्चित् शक्यं कल्पयितुम्। मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः संबन्धहेतुः। एतेन यजमानत्वम् आत्मनः व्याख्यातम्।

२३. शरीरपात होने पर अशरीरत्व होता है, जीते जी नहीं हो सकता-ऐसा कहा तो? नहीं। क्योंकि सशरीर स्थिति मिथ्याज्ञान से ही होती है। 'शरीर ही मैं हूँ' इस अभिमानरूप मिथ्याज्ञान को छोड़ कर अन्य किसी कारण से आत्मा में सशरीरत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। कर्म द्वारा उत्पन्न न होने के कारण अशरीरत्व नित्य है ऐसा हम पीछे कह आये हैं। आत्मा से किये गये धर्म और अधर्म से उसे शरीर प्राप्त होता है ऐसा कहा तो? नहीं, क्योंकि आत्मा का शरीर के साथ संबन्ध ही असिद्ध है। इस कारण धर्म और अधर्म आत्मा से किये गये हैं, यह बात भी असिद्ध है। आत्मा का शरीर के साथ संबन्ध हो तो धर्म और अधर्म की उत्पत्ति हो और आत्मा द्वारा किये गये धर्म और अधर्म से शरीर के साथ संबन्ध हो ऐसा अन्योन्याश्रय होगा। इन दोनों के परस्पर कार्यकारणभाव अनादि है ऐसा मानना भी केवल अन्धपरम्परा ही है। आत्मा का क्रिया के साथ संबन्ध न होने के कारण वह कर्ता नहीं हो सकता। कर्मचारियों के साथ सन्निधानमात्र से राजा आदि में कर्तृत्व देखने में आता है ऐसा कहा तो? नहीं है, क्योंकि धनदान आदि उपायों से सम्पादित भृत्यों के साथ संबन्ध होने के कारण राजा आदि में कर्तृत्व होना ठीक है, परन्तु आत्मा का शरीर आदि के साथ धनदान आदि के समान स्व-स्वामिसंबन्ध के निमित्तकारण की कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन मिथ्या अभिमान तो संबन्ध का प्रत्यक्ष कारण है। इस कथन से आत्मा के यजमानत्व का व्याख्यान हो गया।

( २३.१ ) अशरीरत्व को स्वीकार न करनेवाला पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि अशरीरत्व मरणान्तर ही होता है। परन्तु यह ठीक नहीं है। मरने के बाद आत्मा को प्रियाप्रिय का स्पर्श है या नहीं, केवल शास्त्र ही बता सकता है कोई और नहीं। परन्तु शास्त्र तो मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग/नरक की प्राप्ति कहता है, अर्थात्

मरने के बाद भी प्रियाप्रिय का स्पर्श नहीं छूटता। इसलिये पूर्वपक्षी का आक्षेप गलत है। और, जीवित अवस्था में ही सुषुप्ति में प्रियाप्रिय के स्पर्श से छूट जाना सकललोकप्रत्यक्ष है। श्रुति बताती है कि उसका कारण उस समय होने वाला ब्रह्मात्मैकत्व ही है। 'सता तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति'—सत् से सम्पन्न हो जाता है, अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है (छा.६.८.१); 'पर आत्मनि संप्रतिष्ठते'—परमात्मा में स्थित हो जाता है (प्र.४.७), इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। जागते ही प्राप्त होनेवाला सशरीरत्व मिथ्याज्ञाननिमित्त ही है।

**आक्षेपः**—ऐसा ही क्यों कहें? यदि हम कहें कि शरीर आत्मा के धर्माधर्म का ही फल है तो?

**परिहारः**—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि शरीर सिद्ध होगा तो धर्माधर्म होगा, धर्माधर्म होगा तो शरीर सिद्ध होगा; इस प्रकार शरीरसंबंध और धर्माधर्म, इन दोनों में कौन किसका कारण है यह निश्चय नहीं हो सकता—उनमें अन्योन्याश्रय दोष है। इनमें बीज-वृक्ष के समान अनादि सम्बन्ध भी नहीं कह सकते क्योंकि वह अन्धपरम्परा होगी; अर्थात् एक अन्धे ने कहा दूध सफेद है, उससे प्रमाण पूछा तो उसने कहा कि एक और अन्धे ने मुझसे कहा है, दूसरे अन्धे से प्रमाण मांगा तो उसने तीसरे अन्धे को कहा, इस प्रकार। इसलिये, इन दोनों में कौन किसका कारण है यह सप्रमाण ही निश्चय नहीं होता। 'सुषुप्ति में शरीरसम्बन्ध का न रहना, धर्माधर्मसम्बन्ध भी न रहना' इस सर्वानुभव का कारण श्रुतिकथित ब्रह्मात्मैकत्व ही है, इसको यदि हम याद रखते हैं तो 'आत्मा का सशरीरत्व मिथ्याज्ञान का ही फल है, और आत्मा धर्माधर्म का कर्ता नहीं है' यह निश्चय हो जाता है।

**संशयः** आत्मा के सान्निध्य से ही शरीर में कर्म चलता है, ऐसा कहें तो?

**परिहारः** आत्मा अकर्ता है ये वेदान्त का डिंडिमघोष है। सुषुप्तिकाल में आत्मा से एक होने के कारण कम से कम तत्काल के लिये तो जीव को अकर्तृत्व प्राप्त होता ही है। लेकिन अविद्या के कारण उठते ही कर्तृत्व का अनुभव होता है; इसलिये, वह यज्ञ का यजमान होकर पुण्य की प्राप्ति कर सकता है।

२४. अत्राहुः देहादिव्यतिरिक्तस्य आत्मनः आत्मीये देहादौ अभिमानः गौणः, न मिथ्या इति। तन्न, प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः। यस्य हि प्रसिद्धो वस्तु-भेदः यथा केसरादिमान् आकृतिविशेषः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाक् मुख्यः अन्यः प्रसिद्धः ततश्च अन्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः संपन्नः सिद्धः तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतः, न अप्रसिद्धवस्तुभेदस्य। तस्य तु अन्यत्र अन्यशब्दप्रत्ययौ भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतः, न गौणौ। यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमिति अगृह्यमाण विशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ। यथा वा शुक्तिकायाम् अकस्मात् रजतमिति निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ। तद्वत् देहादिसंघाते अहमिति निरुपचारेण शब्दप्रत्ययौ

आत्मानात्माविवेकेन उत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम्? आत्मानात्मविवेकिनामपि पंडितानाम् अजाविपालामिव अविविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः। तस्मात् देहादिव्यतिरिक्त आत्मास्तित्ववादिनां देहादौ अहंप्रत्ययो मिथ्यैव, न गौणः।

२४. इस विषय में (प्राभाकर) कहते हैं कि देह आदि से भिन्न आत्मा का अपने देह आदि में अभिमान गौण है, मिथ्या नहीं है। यह नहीं है, क्योंकि जो दो वस्तुओं के भेद को जानता है, उसी को गौण और मुख्य ज्ञान होता है यह बात प्रसिद्ध है। जैसे कि केसर आदि से युक्त आकृतिविशेष अन्वय-व्यतिरेक से सिंह शब्द और सिंह इस ज्ञान का पात्र मुख्य अन्य प्रसिद्ध है और उससे भिन्न क्रूरता एवं शूरता आदि प्रायिक सिंह के गुणों से सम्पन्न पुरुष भी ज्ञात है, उस पुरुष के सिंहगुणसम्पन्न मनुष्य में होनेवाला सिंहशब्दप्रयोग और सिंहज्ञान गौण होते हैं। परन्तु जिसको वस्तुओं का भेद ज्ञात नहीं, उसको नहीं। उसको तो दूसरे अर्थ में दूसरे पदार्थ के वाचक शब्द का प्रयोग और दूसरे शब्द से दूसरे का ज्ञान भ्रान्ति से ही होते हैं, गौण नहीं हैं। जैसे मन्द अन्धकार में 'यह स्थाणु है' ऐसे विशेषज्ञान के अभाव के समय में 'पुरुष' यह शब्द और ज्ञान स्थाणु में होते हैं और जैसे शुक्ति में अकस्मात् 'यह रजत है' यह शब्दप्रयोग और ज्ञान निश्चित होते हैं, इसी प्रकार देह आदि समुदाय में प्रधानरूप से होने वाले 'मैं' ऐसा शब्दप्रयोग और ज्ञान आत्मा और अनात्मा का विवेक न होने से उत्पन्न होते हैं, वे गौण कैसे कहे जायँ? आत्मा और अनात्मा का भेद जाननेवाले पंडितों को भी साधारण गड़रिये के समान शरीर आदि में 'मैं' ऐसा शब्दप्रयोग और ज्ञान भ्रान्ति से ही उत्पन्न होते हैं। इस कारण आत्मा को देह आदि से भिन्न माननेवालों का शरीर आदि में होनेवाला 'मैं' यह ज्ञान मिथ्या ही है, गौण नहीं।

( २४.१ ) 'सशरीरत्व मिथ्याज्ञान का फल है' यह स्वीकार न करनेवाले मीमांसकों का आक्षेप है कि स्वयं शास्त्र ही मरणान्तर स्वर्ग-नरक को कहता है, इसलिये आत्मा शरीर से भिन्न ही है, इसको सब जानते हैं। कोई 'मैं आंख हूँ, मैं पैर हूँ' नहीं कहता, बल्कि 'मेरी आंख, मेरा पैर' ऐसा ही कहते हैं। इसलिये, मैं शरीर हूँ कहना गौणप्रयोग है, मिथ्याज्ञान नहीं।

**परिहार:** यह कथन ठीक नहीं है। गौणप्रयोग कब होता है यह विश्लेषण करके समझने पर स्पष्ट होगा। एक व्यक्ति की क्रूरता और शौर्य को देखकर सादृश्य के कारण उसे 'वह सिंह है' ऐसा कहते हैं। यह कहते समय उसको ठीक पता है कि केसरादि युक्त चतुष्पात् प्राणी ही सिंह होता है और मनुष्य उससे अत्यन्त भिन्न है। तो भी वह उपचार के लिये सादृश्य से उस मनुष्य को सिंह कहता है। यह है गौणप्रयोग। लेकिन, स्थाणु को पुरुष या शुक्ति को रजत कहते समय स्थाणु-पुरुष, शुक्ति-रजत के भिन्नत्व को वह

नहीं जानता। यह गौण नहीं, मिथ्याज्ञान ही है। इसी प्रकार स्वयं को शरीर समझना भी मिथ्याज्ञान ही है। स्वयं को न जानने के कारण ही शरीर से अपने भिन्नत्व का अनुभव नहीं है। 'मेरा शरीर', ऐसा कहकर अपने को शरीर से अलग करनेवाला पण्डित भी गड़रिये के समान अपने को 'मैं पुरुष हूँ' ऐसा ही कहता है। इसलिये 'मैं पुरुष हूँ' यह प्रयोग गौण नहीं, मिथ्याज्ञान ही है।

२५. तस्मात् मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात् सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषः अशरीरत्वम्। तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः "तद्यथा हि निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत एवमेव इदं शरीरं शेते। अत अयमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव" (बृ. ४.४.७) इति, "सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव" इति च। स्मृतिरपि "स्थितप्रज्ञस्य का भाषा" (गी. २.५४) इत्याद्या स्थितप्रज्ञलक्षणानि आचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसंबंधं दर्शयति। तस्मात् न अवगत-ब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम् यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वम्, नासौ अवगतब्रह्मात्मभावः इति अनवद्यम्।

२५. इससे यह सिद्ध हुआ कि सशरीरत्व मिथ्याज्ञान से होता है, अतः ज्ञानी को जीवित रहते हुए भी अशरीरत्व प्राप्त हो सकता है। ब्रह्मज्ञानी के संबन्ध में 'तद्यथा०' जिस प्रकार ऐसी सर्प की त्वचा वल्मीक आदि में फेंकी हुई पड़ी रहती हैं, उसी प्रकार विद्वान् ने जिसमें अभिमान त्याग दिया है, वह शरीर पड़ा रहता है। वह अशरीर है, मरणरहित है, प्राण है, ब्रह्म है, स्वयंप्रकाश ही है और 'सचक्षुरचक्षु०' (वह नेत्ररहित होता हुआ भी नेत्रसहित के समान, कर्णरहित भी सकर्ण-सा, वागिन्द्रियरहित भी वाणी से सम्पन्न-सा, मनरहित भी मनसहित-सा, प्राणरहित भी सप्राण-सा है) ऐसी श्रुति है। 'स्थितप्रज्ञस्य०' (जिसकी प्रज्ञा स्थित है, उसकी भाषा क्या है) इत्यादि स्मृतियां भी स्थितप्रज्ञ का लक्षण कहती हुई यही दिखलाती हैं कि विद्वान् का प्रवृत्ति के साथ कुछ भी संबन्ध नहीं है। इसलिए 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जिसने साक्षात्कार कर लिया है, वह पहले के समान संसारी नहीं रहता। जो पूर्व के समान संसारी है उसमें ब्रह्मात्मभाव नहीं है, इसलिये दोष नहीं है।

( २५.१ ) ब्रह्मात्मैकत्व विद्या से सम्यग्ज्ञान प्राप्त होते ही शरीर से कल्पितसम्बन्ध छूट जाता है। अपनी 'फेंकी हुयी' त्वचा से जैसे सांप का सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार शरीरसम्बन्ध नष्ट होते ही वह ब्रह्म हो जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि पहले सम्बन्ध था। पहले भी नहीं था। इसलिये 'अविद्यालेश, विदेहमुक्ति ही निजमुक्ति' इस प्रकार की कल्पनाओं को अवकाश न देते हुयी श्रुति

कहती है 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'-ब्रह्म ही होकर ब्रह्म में लय होता है। यह 'सचक्षु होने पर भी अचक्षु है'। अविद्यावान् की तरह नानात्व को देखते रहने पर भी नानात्व को न समझने के कारण विद्यावान् के चक्षु अचक्षु ही हैं। इसको कुछ लोग 'अचक्षु होने पर भी सचक्षु' ऐसा कहते हैं; अर्थात्, निरुपाधिक आत्मस्वरूप करणों से व्यवहार करता हुआ सा दिखाई देता है। अक्षरार्थ के अनुसार किया हुआ प्रथम वर्णन ज्ञानी के स्वहृदयप्रत्यय का वर्णन है, दूसरा वर्णन अन्य लोग ज्ञानी को कैसे देखते हैं उसका है। कह चुके हैं कि स्थितप्रज्ञ के यही लक्षण हैं। ब्रह्मत्वमैकत्व जिसमें नहीं वह क्षेत्र को देखते हुये अपने को क्षेत्रज्ञ समझता है। ब्रह्मात्मभाव में रहने वाला, भौतिक चक्षुओं से नानात्व को देखने पर भी, अपने को क्षेत्रज्ञ नहीं मानता; बल्कि अपने को क्षेत्र-क्षेत्रज्ञों का भी कारण ब्रह्म समझता है। अर्थात्, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से (क्षेत्र-इन्द्रिय के सन्निकर्ष से) सिद्ध होने वाला नानात्वरूपी क्षेत्रधर्म, और उसका ज्ञातृत्वरूपी क्षेत्रज्ञधर्म-इन दोनों का स्वरूप एक ही आत्मा है। धर्म स्वरूप को छोड़कर नहीं रहता, लेकिन स्वरूप तो निर्धर्म ही होता है। इसलिये, जिसने क्षेत्र से अध्यासरूपी सम्बन्ध रखा है, उस अज्ञानी की ही प्रवृत्ति होती है। सम्यग्ज्ञान से प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। क्षेत्र असत् नहीं बल्कि आत्मा है; क्षेत्र में जो अध्यास किया हुआ है वह असत् यानी मिथ्या है।

**२६. यत् पुनरुक्तम् श्रवणात् पराचीनयोः मनननिदिध्यासनयोःदर्शनात् विधिशेषत्वं ब्रह्मणः न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति। न, अवगत्यर्थत्वात् मनननिदिध्यासनयोः। यदि हि अवगतं ब्रह्म अन्यत्र विनियुज्येत, भवेत्तदा विधिशेषत्वम्। न तु तदस्ति। मनन-निदिध्यासनयोरपि श्रवणवत् अवगत्यर्थत्वात्।**

२६. (पूर्वपक्षी ने) पहले जो कहा था कि श्रवण के अनन्तर मनन और निदिध्यासन देखने में आते हैं, अतः ब्रह्म विधिशेष है, स्वरूप में पर्यवसायी नहीं होता, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्रवण के तुल्य मनन और निदिध्यासन ब्रह्म की अवगति-साक्षात् अनुभव के लिए हैं। यदि अवगतब्रह्म का कहीं कर्म आदि में विनियोग होता, तो वह विधि का अंग हो सकता था। लेकिन ऐसा नहीं हुआ है। मनन और निदिध्यासन भी श्रवण के समान ज्ञान के लिए ही हैं।

( २६.१ ) पूर्वपक्षी के अनुसार 'श्रवण के अनन्तर कहा हुआ मनन ब्रह्म के स्पष्ट ज्ञान के लिये है, उसके बाद कथित निदिध्यासन तो उपासना है। इस ब्रह्मोपासना के पश्चात् ब्रह्मप्राप्ति होती है', यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्रवणादि के बाद ज्ञात होने वाले ब्रह्म का और किसी में विनियोग नहीं किया गया है। ऐसे विनियोग के लिये आस्पद भी नहीं है क्योंकि ब्रह्मज्ञान का ब्रह्मात्मावगति में पर्यावसन होता है; वहाँ उपास्य-उपासक का भेद छूट जाता है, इसलिये उपासना कैसे हो सकती है? अतः मनन और निदिध्यासन ब्रह्मज्ञान के लिये ही कहे गये हैं।

२७. तस्मात् न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवति। इत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्यसमन्वयात् इति सिद्धम्। एवं च सति “अथातो ब्रह्म जिज्ञासा” इति तद्विषयः पृथक् शास्त्रारंभः उपपद्यते। प्रतिपत्ति-विधि-परत्वे हि “अथातो धर्मजिज्ञासा” इत्येव आरब्धत्वात् न पृथक्शास्त्रम् आरभ्येत। आ-रभ्यमाणं च एवमारभ्येत “अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा” इति। “अथातः क्रत्वर्थं पुरुषार्थयोर्जिज्ञासा” (जै. सू. ४.१.१) इतिवत्। ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्तु अप्रतिज्ञाता इति तदर्थोयुक्तः शास्त्रारंभः “अथातो ब्रह्मजिज्ञासा”।

२७. इसलिये उपासनाविधिपरत्वरूप से ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक नहीं है। ब्रह्म स्वतन्त्र ही शास्त्रप्रमाणक है इसलिए वेदान्तवाक्यों का समन्वय ब्रह्म में ही है, ऐसा सिद्ध होता है। ऐसा होने से ही ‘अथातो०’ इस प्रकार ब्रह्मविषयक पृथक्शास्त्र का आरम्भ युक्त है। वेदान्त यदि उपासनाविधि का विषय होता तो ‘अथातो धर्म०’ इस शास्त्र के पहले ही आरब्ध होने के कारण पृथक्शास्त्र का आरम्भ नहीं होता। यदि आरम्भ होता तो ‘अथातः क्रत्वर्थ०’ (अब क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ की जिज्ञासा) सूत्र की तरह ‘अथातः परिशिष्ट०’ (अब अवशिष्ट धर्म की जिज्ञासा) इस प्रकार आरम्भ होता। ब्रह्म और आत्मा के एकत्वज्ञान की प्रतिज्ञा पूर्वमीमांसा में नहीं है, इससे उसके लिए ‘अथातो ब्रह्म०’ इस प्रकार नवीनशास्त्र का आरम्भ युक्त है।

( २७.१ ) ‘ब्रह्म प्रतिपत्तिविधि द्वारा शास्त्रप्रमाणक नहीं है, स्वतन्त्ररूप से ही शास्त्रप्रमाणक है’, यह बात यहाँ युक्ति से सिद्ध कर रहे हैं। सिद्धान्ती: चूँकि उपासना मानसिक कर्म है, इसलिये उपासना का विचार तो धर्मजिज्ञासा में ही आना चाहिये था क्योंकि प्रतिपत्तिविधिविषय ब्रह्म तो वहीं का विषय होता है। इसके लिये एक और शास्त्र का आरंभ करने की आवश्यकता नहीं रहती?

**पूर्वपक्षी:** ऐसा नहीं है। ‘धर्मजिज्ञासा में उपासना का विचार नहीं आ सकता है। यह तो प्रकरण ही अलग है।’ **सिद्धान्ती:**—यदि ऐसा है तो ‘अब परिशिष्ट क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ की जिज्ञासा करते हैं’ इस प्रकार कहकर जैसे धर्मशास्त्र में ही एक और प्रकरण का आरंभ किया है, उसी प्रकार यहां भी ‘अथातः परिशिष्ट धर्मजिज्ञासा—अब इसलिये शेष धर्मजिज्ञासा की जाती है’ कहकर आरंभ कर सकते थे। परन्तु ऐसा न करके एक और शास्त्र का आरंभ किया गया है। क्यों नया शास्त्र आरंभ किया गया है? क्योंकि धर्मजिज्ञासा में ब्रह्मात्मैकविज्ञान की प्रतिज्ञा नहीं की गयी है।

२८. तस्मात् “अहं ब्रह्मास्मि” इत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि च इतराणि प्रमाणानि। न हि अहेय-अनुपादेय-अद्वैतात्म-अवगतौ निर्विषयाणि अप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्ति। अपि च आहुः



गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।  
 सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्॥१॥  
 अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः।  
 अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः॥२॥  
 देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।  
 लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्॥३॥

इति चतुःसूत्री समाप्ता।

२८. इसलिये, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान होने तक ही सब विधि और दूसरे प्रमाण हैं। क्योंकि हेय और उपादेय रहित अद्वैत आत्मतत्त्व का ज्ञान होने पर, न कोई विषय है और न प्रमाता है, इसलिए प्रमाण ही नहीं हो सकते। और (ब्रह्मवेत्ता) कहते हैं—

'गौणमिथ्यात्मनो०' (अबाधित सद्रूप ब्रह्म 'मैं हूँ' ऐसा बोध होने पर पुत्र, देह आदि का बाध होता है, उससे गौणमिथ्यात्मा दोनों बाधित होंगे—तब व्यवहार कैसे हो सकते हैं)। 'अन्वेष्टव्य०' (जिस आत्मा का ज्ञान करना है उसके पहले आत्मा प्रमाता बन सकता है, इस अन्वेष्टव्य आत्मा का ज्ञान होने पर प्रमाता पुण्य-पाप आदि दोषों से रहित हो जाता है)। 'देहात्म०' (जिस प्रकार 'मैं देह हूँ' यह ज्ञान कल्पित होने पर भी प्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार (प्रत्यक्ष आदि) लौकिक प्रमाण भी आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त प्रमाण हैं।

(२८.१) सर्वेविधयः इति:—संशयः यदि आत्मज्ञान विधिकर्म का फल होता तो वह अनित्य सिद्ध होगा। 'तद्विषये लिङ्गदयः श्रूयमाणा अपि अनियोज्य विषयत्वात् कुण्ठी भवन्ति' और 'विधिच्छ्रयानि वचनानि' कहकर श्रवण, मनन और निदिध्यासन विधि नहीं है यह समझाया गया है। अब यहां 'अहं ब्रह्ममास्मि इति एतत् अवसाना एव सर्वे विधयः' कहने से तो ये विधि ही सिद्ध हुये न? इसपर कोई एक परिहार करता है:—इस वाक्य में निश्चित नहीं है कि विधि शब्द से श्रवणादि को ही कह रहे हैं। शायद धर्मशास्त्रविधि को ही कह रहे होंगे? इस पर सिद्धान्ती कहता है:—यह ठीक है, परन्तु यहाँ विधि के अर्थ में तव्य प्रत्ययों को सुनकर संशय होता है। अतः चर्चा करते हैं:—

(२८.२) 'ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुम् इष्टं ब्रह्म', जिज्ञासाधिकरण में कथित इस वाक्य में प्रयुक्त ज्ञान पद की व्याख्या वहाँ की गयी है। ब्रह्म का यह ज्ञान श्रद्धापूर्वक किये गये श्रवण से ही आरंभ होता है। श्रवण होते ही सबको ज्ञान नहीं मिल जाता। श्वेतकेतु इसमें दृष्टान्त है। मननानंतर ही निश्चित ज्ञान मिलता है। इस ज्ञान का प्रमेय ब्रह्म है। प्राज्ञ, जो कि वह स्वयं ही है, प्रमाता है। यह द्वैत ही है। परन्तु

श्रुति कहती है 'प्राज्ञ ही ब्रह्म है', और ब्रह्मस्वरूप प्राज्ञ ही आत्मा है। इसलिये, प्रमाता द्वारा बुद्धि निरन्तर आत्मा की ओर प्रवाहित करते रहने पर बुद्धि आत्मा में लीन हो जाती है। यही निदिध्यासन है। इससे ही अवगति होती है। अवगति के लिये निदिध्यासन कितने समय तक करना होता है? यह पूछा जाये तो उत्तर है:—'पहला हो, आखिरी हो, सन्तत हो, असन्तत हो, जो भी प्रत्यय अविद्यादि दोषों का निवारक हो, वही विद्या है—**य एव अविद्यादिदोषनिवृत्तिफलकृत्प्रत्ययः आद्यः अन्त्यः सन्ततः असन्ततो वा स एव विद्या**' (बृ.भा. १.४.१०)। तब तक होने वाले श्रवणमनननिदिध्यासन को विधि—सा समझना गलत नहीं होगा; कर्मकाण्ड में विधि अनुसार किये हुए कर्म के फल पाने जैसा यह भी है।

**संशयः**—यदि ऐसा है तो उनको 'विधिच्छायानि' क्यों कहा? विधि ही क्यों नहीं कहा?

**परिहारः**—विधि नहीं है। कारण यह है कि कर्मकाण्ड में विधियुक्त कर्म और तत्फल अलग-अलग हैं। यहाँ ऐसा नहीं है। मनन और निदिध्यासन श्रवण द्वारा उत्पन्न ज्ञान से भिन्न एक और ज्ञान की उत्पत्ति नहीं करते। तो भी, इनके बिना ज्ञान की सिद्धि भी नहीं होती। इसलिये ये 'विधिच्छायानि वचनानि' हैं।

( २८.३ ) इस ब्रह्मात्मज्ञान से प्रमातृत्व छूट जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्मात्मज्ञान से प्रमेयविषय ही नष्ट हो जाता है; बल्कि प्रमेय भी स्वयं ही होने के कारण प्रमातृत्व ही छूट जाता है। '**अजं ब्रह्म सर्वमित्येतत् शास्त्राचार्योपदेशतः अनुस्मृत्य तद्विपरीतं जातुं नैव तु पश्यति, अभावात्**'—शास्त्राचार्य के उपदेश से 'सब अज ब्रह्म ही है' इस प्रकार जब अनुस्मरण करता है, तब, उससे विरुद्ध कुछ नहीं देखता, क्योंकि ऐसा कुछ है ही नहीं। (मां. का. भा. ३.४३)। अद्वैतात्म-अवगति, यानी अपने से भिन्न कुछ नहीं रहने के कारण हानोपादानरहित सर्वात्मभाव प्राप्त होता है। आगे ब्रह्मज्ञानियों की गाथाओं को सुनाकर इसका समर्थन करते हैं।

( २८.४ ) **श्लोक (१) पुत्रदेहादिबाधनात् इति**—यहां बाधनात् का अर्थ नाशनात् नहीं है। देह नाश होगा तो वेदान्तपरम्परा का निर्वाह नहीं हो पायेगा।

'बाधनात्' का अर्थ है 'प्रपंचविलय', अर्थात् सर्वात्मभाव में, जहाँ सब कुछ स्वरूपदृष्टि से ही दिखता है, पुत्रादि अपने नहीं और देहादि स्वयं नहीं रहता। पुत्रादि गौणात्मा हैं, देहादि मिथ्यात्मा हैं। सर्वात्मभाव में ये दोनों असत् हैं। जब तक गौणात्मा और मिथ्यात्मा हैं, तभी तक सब कार्य चलते हैं। इसलिये, वे जब नहीं रहते, तब कार्य कुछ नहीं रहता।

( **श्लोक २) अन्वेष्टव्य इति**—अज्ञानी के लिये आत्मा अलग ही होती है। इसलिये श्रुति—'**सोऽन्वेष्टव्यः सः विजिज्ञासितव्यः**— उस आत्मा की खोज करनी चाहिये, उसकी विशेषरूप से जिज्ञासा करनी चाहिये' (छा. ८.७.१), कहती है। प्रमाता अज्ञानी को वह आत्मा ढूंढनी होती है। आत्मज्ञान के पश्चात् प्रमातृत्व स्वभाविक रूप से छूट जाता है। पाप-पुण्य प्रमातृत्व रहने तक ही होते हैं; इसलिये, अद्वैतात्मज्ञान से ये दोष भी छूट जाते हैं।

( श्लोक ३ ) देहात्मप्रत्यय इति:- प्रमातृप्रमेय व्यवहार के लिये प्रमाण आधार है। और प्रमाण का प्रामाण्य अनुभव है। यह अनुभव अध्यास पर आधारित है। अर्थात् सब लौकिक-वैदिक व्यवहार के लिये प्रमाण का आधार अध्यास ही है। प्रमातृत्वकाल में यह सहज होने पर भी आत्माज्ञान से अध्यास के नाश होते ही सब प्रमाणों का प्रामाण्य और लौकिक व्यवहार का प्रामाण्य, 'अपने में अविद्या से कल्पित थे' यह समझ में आ जाता है।

( २८.५ ) 'प्रमाण का प्रामाण्य कल्पित है' इस वाक्य में 'कल्पित' शब्द का क्या अर्थ है? यदि श्रुतिप्रमाण भी कल्पित है तो श्रुति द्वारा कथित अव्यवहार्यात्मोपदेश का हम कैसे विश्वास करें? किसी तरह विश्वास करके स्वीकार करने पर यदि आत्मज्ञान को पा भी लिया, तो वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है या नहीं इसका निश्चय कैसे होगा?

इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार है:-

'कार्यरूप विकारों में ही परस्पर व्यवहार हो सकता है, कारण में नहीं। परन्तु कारणरहित कार्य में भी व्यवहार नहीं हो सकता- न हि निरात्मकं किञ्चित् भूतं व्यवहाराय अवकल्पते' (गी.भा.९.४)। यथार्थ रूप से देखा जाये तो 'कारणरहित कार्य अभाव ही है- कारण व्यतिरेकेण अभावः कार्यस्य' (सू.भा.२.१.१४)। घड़े के ऊपर ईंट गिरी और वह टूट गया, ये व्यवहार मृद्विकारों में ही हैं, मिट्टी में नहीं। मिट्टीरहित मृद्विकार रह ही नहीं सकता। उसी प्रकार, प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय व्यवहार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के बीच में ही हो सकता है आत्मा में नहीं। परन्तु क्षेत्र या क्षेत्रज्ञ निरात्मक नहीं हैं। प्रमाकरण का प्रमेय से सन्निकर्ष होने पर बुद्धि में प्रमा पैदा होना-ये क्षेत्रधर्म है। यह होते ही प्रकृतिस्थ क्षेत्रज्ञ 'मुझे प्रमा प्राप्त हुयी है, मैं प्रमाता हूँ' ऐसा समझता है। एक प्रमेय की सब प्रमाताओं में एक ही प्रमा होती है। ब्रह्मात्मज्ञान से जिसका अध्यास नष्ट हो चुका है, उस ज्ञानी की बुद्धि में भी यही प्रमा पैदा होती है; इसलिये, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ वास्तव हैं कल्पित नहीं हैं। तो कल्पित क्या है? 'अन्यस्य च अविद्याकृतत्वे विद्यया अवस्तुत्वदर्शनोपपत्तिः। तद्विद्वितीयस्य चन्द्रस्य असत्त्वं यदतैमिरिकेण चक्षुष्मता न गृह्यते'-अन्य पदार्थ (द्वैत) के अविद्याकृत होने पर ही अविद्या के द्वारा उसके अवस्तुत्वदर्शन की उपपत्ति हो सकती है। द्वितीय चन्द्र का असत्त्व यही है कि वह तिमिररोगरहित नेत्रों वाले पुरुषों द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता (तै.भा. २.८.५)। इसलिये, 'प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय व्यवहार में कल्पित क्या है?' प्रमातृत्व। 'किस में?' प्राज्ञ में। 'कैसे?' प्राज्ञ वास्तव में प्राज्ञ नहीं, वह तो प्रमातृत्वरहित आत्मा ही है। इसलिये, प्राज्ञ का अपने को आत्मा समझते ही क्षेत्रव्यवहार क्षेत्र में ही रह जाता है, उसके (प्राज्ञ के) निकट भी नहीं जा पाता।

'ऐसा है तो ज्ञानप्राप्ति के बाद जड़क्षेत्र में किससे व्यवहार चलता है?' 'प्रारब्ध के अनुसार प्राज्ञ का व्यवहार चलानेवाला ईश्वर है, जिसमें स्वरूपाश्रय से औदासीन्य और मायाश्रय से प्रवर्तकत्व है- परमात्मनस्तु स्वरूपव्यपाश्रयम् औदासीन्यम् मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वम्' (सू.भा. २.२.७)।

**प्रश्न:** 'सृष्टि आदि व्यवहार ईश्वर के ही हैं, ज्ञानी के नहीं, इसलिये, ब्रह्मात्मैकत्व अनुपपन्न है न?'

**उत्तर:** ऐसा नहीं है। ज्ञानी ईश्वर ही है। 'आत्मविज्ञान से पहले अपने से अलग ईश्वर से प्राण से नाम तक पदार्थों की उत्पत्ति और प्रलय होते थे। सदात्मविज्ञान होने के बाद वे अपनी आत्मा से ही हो गये। इस प्रकार, ज्ञानी के और भी सब व्यवहार आत्मा से ही होने लगते हैं—**प्राक् सदात्मविज्ञानात् स्वात्मनः अन्यस्मात् सतः प्राणादेः नामान्तस्योत्पत्तिप्रलयावभूताम्। सदात्मविज्ञाने तु सति इदानीं स्वात्मत एव संवृत्तौ। तथा सर्वोऽप्यन्यो व्यवहारः आत्मन एव विदुषः'** (छा. भा. ७.२६.१)। वह ईश्वर ही ज्ञानी के शरीर के व्यवहार को भी संभालता है। परन्तु सम्यग्ज्ञान के उपरान्त वस्तुतः व्यवहार है ही नहीं, एकमेवाद्वितीयं ही है।



Maha Parivrajak

## शब्दानुक्रमणिका

पहले अक्षर अधिकरण के नाम सूचित करते हैं:

अ=अध्याभाष्य;

ज=जन्माद्यधिकरण;

जि=जिज्ञासाधिकरण;

शा=शास्त्रयोनित्वाधिकरण;

स=समन्वयाधिकरण

**अर्थवाद**

स.उपोद्घात

**अध्यारोप**

अ. ३.४, जि. उपोद्घात १.१, ज. २.२, ज. ६.२, ज.

७.१

**अध्यास**

अ. ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १२, १४, १५, १६,

१७, १८, १९, २५

**अधिकारि**

अ. २२.१

**अनिर्वचनीय**

अ. १४.४

**अन्तःप्रज्ञ**

अ. पीठिका

**अवगति**

जि. ११.४

**अविद्या-अज्ञान**

अ. १९.१, अ. १९.२, स. २२.१

**अविद्याकल्पित**

ज. ७.१, स. १३.२

**अस्मत्**

अ. १, अ. ३.५

**अहंप्रत्यय**

अ. १६, अ. २३.१, स. १५.१

**ईश्वर-ब्रह्म**

ज. ६.२

**कार्य-कारण अनन्यत्व**

अ. ८.१, अ. १४, अ. २१.४, ज. ९.१

**काल**

ज. ४.१(इ)

**ख्याति**

अ. ९.६, अ. १०, अ. ११, अ. १२, अ. १४.४

**गौणात्मा**

स. २४.१, स. २८.४

**चोदना**

जि. ५

**जिज्ञासा**

जि. ३.१, जि. ११.१-५

## ज्ञानप्रमाण

जि. ११.३

## ज्ञानी

अ. २१.१-५

## तटस्थलक्षण

ज. १.२

## तमस्

अ. ३

## तुरीय शुद्धात्मा

अ. ३.४

## द्विचन्द्र

अ. १४.२

## धर्म-धर्मी

अ. ४-६

## न्यायसूत्र

स. ११.१

## पुरुषतन्त्र

ज. ८.१-२

## प्रकाश

अ. ३

## प्रत्यगात्मा

अ. ३.४, अ. १५

## प्रत्यभिज्ञ

अ. ९.२

## प्रमाण

ज. ८.३-४, स. सम्बन्ध भाष्य, स. ३.१, स. २८.५

## प्राज्ञ

अ उपोद्घात, अ. २, अ. ३.३, अ. ५.१, अ. ८

## बहिष्प्रज्ञ

अ. ३.५, अ. ८.३, अ. २३.१

## बुद्धिसम्बन्ध

अ. ९.३, अ. ९.५

## ब्रह्म-ईश्वर

ज. ६.२

## मिथ्या

अ. ७.१, अ. २५.३

## मिथ्याज्ञान

अ. ८, अ. ९, अ. १३, अ. १४.४

## मोक्ष

स. ५, स. ८, स. ९, स. १७

## कर्मफल नहीं

स. ८, स. ९

## मानसिक कर्मफल नहीं

स. १६.१

## युष्मत्

अ. १

## रज्जु-सर्प

ज. ९.१, स. ६.१

## वस्तुतन्त्र

ज. ८. १-२, स. १३

## विद्या

अ. १६, अ. १९.१

## विधि-निषेध

जि. ३.५, ज. ८.२, स. सम्बन्ध भाष्य ३, स. १.१, स

३.१, स. ४.१

## विषय

अ. २

विषयी

अ. २

वेद नित्यत्व

शा. १.२-४

शुक्ति-रजत

अ. ७.१, अ. १९.१

षष्ठी-विभक्ति

जि. ९.१

सत्य-अनृत

अ. ८. २-३

समास

ज. २.१

सर्वज्ञत्व

अ. ४. ४-५, शा. १. ३-५

सर्वात्मभाव

अ. २५.५, स. ३.१

संशयज्ञान

अ. १९.१

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ

अ. १.२, अ. ३.१, अ. ३.६, अ. ४. ३-५, अ. १४.

३



Maha Parivrajaka

## सङ्केतसूची

ई.	ईशावास्योपनिषत्	तां. ब्रा.	ताण्ड्यब्राह्मणम्
ई. भा.	ईशावास्योपनिषद्भाष्यम्	नि.	यास्कनिरुक्तम्
ऐ. ब्रा.	ऐतरेय ब्राह्मणम्	न्या. सू.	गौतमन्यायसूत्रम्
ऐ. भा.	ऐतरेयोपनिषद्भाष्यम्	प्र.	प्रश्नोपनिषत्
क.	कठोपनिषत्	प्र. भा.	प्रश्नोपनिषद्भाष्यम्
क. भा.	कठोपनिषद्भाष्यम्	बृ.	बृहदारण्यकोपनिषत्
के.	केनोपनिषत्	बृ. भा.	बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम्
के. भा.	केनोपनिषद्भाष्यम्	मां.	माण्डूक्योपनिषत्
गी.	भगवद्गीता	मां. भा.	माण्डूक्योपनिषद्भाष्यम्
गी. भा.	भगवद्गीताभाष्यम्	मां. का. भा.	माण्डूक्यकारिकाभाष्यम्
छां.	छान्दोग्योपनिषत्	मुं.	मुण्डकोपनिषत्
छां. भा.	छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्	मुं. भा.	मुण्डकोपनिषद्भाष्यम्
जै. सू.	जैमिनिसूत्रम्	शा. भा.	शाबरभाष्यम्
तै.	तैत्तिरीयोपनिषत्	श्वे.	श्वेताश्वतरोपनिषत्
तै. भा.	तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम्	सू.	ब्रह्मसूत्रम्
तै. सं.	तैत्तिरीयसंहिता	सू. भा.	ब्रह्मसूत्रभाष्यम्





# श्रेयस्करी में आये शास्त्रवाक्यों और भाष्यवाक्यों की सूची

## अध्यासभाष्य

‘भूत भविष्यज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञातृत्वम् अस्य एव इति प्राज्ञः। सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते’-भूत भविष्यत् का तथा सम्पूर्ण विषयों का ज्ञाता यही है, इसलिये यह प्राज्ञ है। सुषुप्त होने पर भी इसे भूतपूर्व गति से प्राज्ञ कहा जाता है। (मां.भा.५) ( २.१ )

‘यद् यद् कस्यचिदवभासकं तत् तत् ज्योतिः शब्देन अभिधीयते-जो-जो किसी वस्तु का प्रकाशक है, उस-उस को ज्योति कहा जाता है’(सू.भा.१.१.२४)। ( ३.२ )

‘क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः विषयविषयिणोः भिन्नस्वभावयोः इतरेतर-तद्धर्माध्यासलक्षणः संयोगः क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपविवेकअभावनिबन्धनः रज्जुशुक्तिकादीनां तद्विवेकज्ञानाभावाद् अध्यारोपित- सर्परजतादिसंयोगवत्। सोऽयम् अध्यासस्वरूपः क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगः मिथ्याज्ञानलक्षणः’-क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, जो कि विषय और विषयी हैं तथा भिन्न स्वभाव वाले हैं उनका, अन्य में अन्य के धर्मों का अध्यासरूप संयोग है। यह संयोग, रज्जु और सीप आदि में, उनके स्वरूपज्ञान के अभाव के कारण अध्यारोपित सर्प और रजत आदि के संयोग के समान, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण है। वह यह अध्यासस्वरूप क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग मिथ्याज्ञान है (गीता. भा.१३.२६)। ( ३.४ )

‘बीजावस्थापि ‘न किंचिदवेदिषम्’ इति उत्थितस्य प्रत्ययदर्शनात् देहे अनुभूयत एव’-जागने के बाद ‘मुझे कुछ भी पता नहीं रहा’ इस प्रकार प्रत्यय उत्पन्न होने से बीजावस्था भी देह में अनुभव को आती ही है (मां.का.भा. १.२)। ( ३.५ )

‘तेन एव हि अहंकर्त्रा अहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रियाः निर्वर्त्यन्ते, तत्फलं च स एव अश्नाति’-अहंप्रत्यय के विषय प्रत्ययी अहंकर्ता से सब क्रियाएँ की जाती हैं और उनका फल वही भोगता है (सू.भा. १.१.४)। ( ८.१ )

‘कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं-कार्य कारण से अनन्य है लेकिन कारण कार्य से अन्य ही है’ (सू.भा.२.१.९)। ( ८.१ )

‘यद् रूपेण यन् निश्चितं तद् रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्’-जिस रूप में एक काल में ज्ञात होकर सदा सर्वकाल उसी रूप में रहता है, वह सत्य है। और ‘अनृत’ क्या है? जो बदलता है- ‘यद् रूपेण यन् निश्चितं यत्

नोट-कोष्ठक में आयी काली संख्या कंडिका की सूचक है।

तद् रूपं व्यभिचरत् अनृतम् इति उच्यते'-जिस रूप में एक बार ज्ञात होकर जो बाद में उस रूप को छोड़ देता है, वह अनृत है (तै.भा. २.१.१)।( ८.२ )

वह अविभक्त होने पर भी (देहादि संबंध से) विभक्त सा स्थित है-अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम् (गी. १३.१६)।( ८.३ )

'अयम् अपि बुद्धिसम्बन्धः शक्त्यात्मना विद्यमान एव सुषुप्तप्रलययोः पुनः प्रबोध प्रसवयोः आविर्भवति । एवं हि एतत् युज्यते, नहि आकस्मिकी कस्यचित् उत्पत्तिः संभवति'-सुषुप्ति और प्रलय में शक्तिस्वरूप से वर्तमान यह बुद्धिसम्बन्ध ही पुनः प्रबोध और प्रसव में आविर्भूत होता है। (यह इस प्रकार ही युक्त है क्योंकि) किसी की आकस्मिक उत्पत्ति नहीं हो सकती है (सू.भा.२.३.३१)।( ९.४ )

'बाल्येन तिष्ठासेत्'-बाल्यभाव में रहे (बृ.३.५.१)।( ९.४ )

'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः एतत् क्षेत्रम्'-इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूलदेह, चेतना और धृति ये क्षेत्र हैं (गीता १३.६)।( ९.४ )

'सूर्य चन्द्र रूपी जगत् की जैसे पहले सृष्टि थी, उसी प्रकार ईश्वर से फिर होती है-सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ.सं. १०.१९०.३)।( ९.६ )

'शुक्तिकां रजतम् इति प्रत्येति इति अत्र शुक्तिवचन एव शुक्तिकाशब्दः रजतशब्दः तु रजतप्रतीतिलक्षणार्थः प्रत्येति एव हि केवलं रजतम् इति, न तु तत्र रजतम् अस्ति'-'शुक्ति को रजत समझता है' इसमें शुक्ति शब्द तो शुक्तिवाचक ही है लेकिन रजत शब्द का अर्थ है रजत की प्रतीति, क्योंकि यह रजत है ऐसी केवल प्रतीति ही होती है असल में वहाँ रजत नहीं है (सू.भा. ४.१.५)।( १२.१ )

'एतै प्राणादिभिः आत्मनः अपृथग्भूतैः अपृथग्भावैः एषः आत्मा रज्जुरिव सर्पादि विकल्पनारूपैः पृथगेवेति लक्षितः मूढैः इत्यर्थः । विवेकिनां तु रज्ज्वामिव कल्पिताः सर्पादयो नात्मव्यतिरेकेण प्राणादयः सन्ति'-रज्जु में कल्पित सर्पादि भावों से रज्जु के समान यह आत्मा अपने से अपृथग्भूत प्राणादि अपृथग्भावों से पृथक् ही है-ऐसा मूर्खों को लक्षित-अभिलक्षित अर्थात् निश्चित हो रहा है। विवेकियों की दृष्टि में तो रज्जु में कल्पित सर्पादि के समान ये प्राणादि आत्मा से भिन्न हैं ही नहीं (मां.का.भा. २.३०)।( १४.२ )

'एकस्मिन् चन्द्रे तिमिरकृत-अनेकचन्द्रप्रपंचवत् अविद्याकृतो ब्रह्मणि नामरूपप्रपंचः विद्यया प्रविलापयितव्यः'-एक चन्द्र में नेत्रदोष से किये गये अनेक चन्द्रों के प्रपंच के समान ब्रह्म में अविद्याकृत नामरूप प्रपंच का विद्या से प्रविलय करना (सू.भा. ३.२.२१)।( १४.२ )

'कार्याकारोऽपि कारणस्य आत्मभूत एव'-कार्य का आकार भी स्वरूपतः कारण ही है (सु.भा.२.१.१८)।( १४.२ )

इस प्रकार है अथवा इस प्रकार नहीं है, या है अथवा नहीं है, ये विकल्प वस्तु के बारे में नहीं किये जा

सकते हैं क्योंकि विकल्प पुरुष की बुद्धि की अपेक्षा से होते हैं। किसी भी वस्तु का यथार्थज्ञान पुरुष की बुद्धि की अपेक्षा नहीं रखता। वह (वस्तु का यथार्थज्ञान) तो वस्तु के ही अधीन है। एक स्थाणु में 'यह स्थाणु है, पुरुष है अथवा अन्य कोई है' यह ज्ञान यथार्थज्ञान नहीं है। वहाँ पुरुष है अथवा और कुछ है यह मिथ्याज्ञान है। स्थाणु ही है यह यथार्थज्ञान है क्योंकि वह वस्तु के अधीन है—'न तु वस्तु एव नैवम्, अस्ति नास्ति इति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं तर्हि? वस्तुतन्त्रम् एव तत्। नहि स्थाणौ एकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषो वा अन्यो वा इति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषः अन्यो वा इति मिथ्याज्ञानम्। स्थाणुरेव इति तत्त्वज्ञानम् वस्तुतन्त्रत्वात्' (सू.भा. १.१.२)।(१४.४)

जीवादि पदार्थों में, एक ही धर्मों में सत्त्व और असत्त्व इन विरुद्ध धर्मों का सम्भव न होने से सत्त्वरूप एक धर्म में अन्य धर्म असत्त्व का सम्भव न होने से और असत्त्व में सत्त्व का सम्भव न होने से भी यह आर्हत मत असंगत है—'जीवादिषु पदार्थेषु एकस्मिन् धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोः विरुद्धयोः धर्मयोः असंभवात्, सत्त्वे च एकस्मिन् धर्मे असत्त्वस्य धर्मान्तरस्य असंभवात्, असत्त्वे च एवं सत्त्वस्य असंभवात् असंगतमिदं अर्हतमतम्' (सू.भा. २.२.३३)।(१४.४)

यदि वह भूतवस्तु है तो उसका होना प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति या आगम प्रमाण में से किसी एक के द्वारा ही निश्चित होता है, क्योंकि जब वह इनमें से किसी एक का भी विषय नहीं होता तभी उस वस्तु का अभाव होता है—'उपलब्धि लक्षण प्राप्तस्य अनुपलब्धेः अभावो वसत्त्वन्तरस्य' (सू.भा.२.२.१७)।(१४.४)

'न अयं साधुः अध्यवसायः यतः प्रमाणप्रवृत्ति-अप्रवृत्तिपूर्वकौ संभवासंभवौ अवधार्येते न पुनः संभवासंभवपूर्विके प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्ती'—यह निश्चय साधु नहीं है क्योंकि प्रमाण की प्रवृत्ति से संभव का और प्रमाण की अप्रवृत्ति से असम्भव का निश्चय किया जाता है। संभव और असंभव से प्रमाण की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति का निश्चय नहीं किया जाता (सू.भा. २.२.२८)।(१४.४)

'कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं'—कार्य कारणात्मक है परन्तु कारण कार्यात्मक नहीं है (सू.भा. २.१.९)।(१४.४)

'कार्यं त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति' कार्य का तीनों कालों में कभी भी सत्ता से व्यभिचार नहीं होता (सू.भा.२.१.१६)।(१४.४)

'बीजावस्थापि न किञ्चिदवेदिषमिति उत्थितस्य प्रत्ययदर्शनात् देहे अनुभूयत एव'—जागने के बाद 'मैं कुछ नहीं जाना' इस प्रकार प्रत्यय उत्पन्न होने से, बीजावस्था भी देह में अनुभव को आती ही है (मां.का.भा. १.२)।(१६.१)

'उस अवस्था में तो इसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि 'यह मैं हूँ' और न यह इन अन्य भूतों को ही जानता है। उस

समय तो ये मानों विनाश को प्राप्त हो जाता है। इसमें तो मुझे इष्टफल दिखायी नहीं देता—*नाह खलु अयम् एव सम्प्रत्यात्मानं जानाति अयम् अहम् अस्मि इति नो एवमानि भूतानि। विनाशम् एव अपीतो भवति न अहम् अत्र भोग्यं पश्यामि*' (छा.८.११.१)। (१६.१)

'यदि ज्ञानाभावः यदि संशयज्ञानं यदि विपरीतज्ञानं वा उच्यते अज्ञानम् इति, सर्वं हि तत् ज्ञानेन एव निवर्त्यते'—यदि ज्ञानाभाव को, संशयज्ञान को अथवा विपरीत ज्ञान को अज्ञान कहा जाये तो इन सभी की निवृत्ति ज्ञान से ही हो सकती है (बृ. भा.३.३.१)। (१९.१)

'सुषुप्तकाले स्वेन आत्मना सता संपन्नस्सन् संयक् प्रसीदतीति जाग्रत्स्वप्नयोः विषयेन्द्रिय संयोग जातः कालुष्यं जहाति'—सुषुप्तकाल में अपने आत्मा सत् से सम्पन्न हुआ पुरुष सम्यक् रूप से प्रसन्न होता है अतः वह जाग्रत तथा स्वप्न के विषय और इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त हुई कालिमा को त्याग देता है (छा.भा. ८.३.४)। (१९.२)

'तत्त्व अप्रतिबोधमात्रमेव हि बीजं प्राज्ञत्वे निमित्तम्' (मां.का.भा. १.११) तत्त्व का अप्रतिबोधरूप बीज ही प्राज्ञत्व में कारण है। (१९.२)

'अग्रहण विपरीत संशय प्रत्ययाः तन्निमित्ताः करणस्य एव कस्यचिद् भवितुम् अर्हन्ति न ज्ञातुः क्षेत्रज्ञस्य' - अग्रहण, विपरीतग्रहण और संशय के प्रत्यय और उनके कारण ये सब किसी-न-किसी करण के ही धर्म हैं, ज्ञाता क्षेत्रज्ञ के नहीं (गी.भा. १३.२)।

वह मन से प्राप्त होने वाला है—'*मनसैवानुद्द्रष्टव्यम्*' (बृ. ४.४.१६)। (१९.२)

*आत्मशब्दस्य निरुपपदस्य प्रत्यगात्मानि गवादि शब्दवन् निरूढत्वात्*— गवादि शब्द के समान उपपदरहित आत्मशब्द का अर्थ प्रत्यगात्मा में निरूढ है (छां. भा. ६.८.७)। (२०.१)

'समस्त कार्य, करण और विषयों के आकार में परिणत होकर त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही पुरुष के भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने के लिये देहेन्द्रियादि के आकारों द्वारा मूर्तिमान् होती हैं—*प्रकृतिः च त्रिगुणात्मिका सर्वकार्यकरण विषयाकारेण परिणता पुरुषस्य भोगापवर्गार्थकर्तव्यतया देहेन्द्रियाद्याकारेण संहन्यते*' (गीता.भा. अध्याय १३ का सम्बन्धभाष्य)। (२१.१)

'भौतिक करणों की सृष्टि विषयों की सृष्टि के साथ-साथ ही होती है। *यदि तावद् भौतिकानि करणानि ततः भूतोत्पत्तिप्रलयाभ्याम् एव एषाम् उत्पत्तिप्रलयौ भवतः*।' (सू.भा. २.३.१५)। (२१.१)

करण विषय के समानजातीय ही हैं जात्यन्तर नहीं—*विषयसमानजातीयं करणं, न तु जात्यन्तरम्*। (बृ.भा. २.४.११)। (२१.१)

'इन्द्रियां इन्द्रियार्थों में प्रवृत्त होती हैं' इस प्रकार समझकर '*इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्*'—(गीता ५.९)। (२१.१)

‘ऐसा पुरुष, लोकव्यवहार की साधारण दृष्टि से तो सांसारिक पुरुषों द्वारा आरोपित किये हुये कर्तापन के अनुसार भिक्षाटन आदि कर्मों का कर्ता होता है। परन्तु शास्त्रप्रमाणजनित अपने अनुभव से तो वह अकर्ता ही होता है-**लोकव्यवहार- सामान्यदर्शनेन तु लौकिकैः आरोपितकर्तृत्वे भिक्षाटनादौ कर्मणि कर्ता भवति स्वानुभवेन तु शास्त्रप्रमाणजनितेन अकर्ता एव**’ (गी.भा. ४.२२)। ( २१.१ )

‘शरीरारम्भक कर्मों का फल निश्चित होने के कारण, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के बाद भी वाणी, मन और शरीर की चेष्टा अवश्यम्भाविनी ही है, क्योंकि जो कर्म फलोन्मुख हो चुका है वह तो छूटे हुये बाणादि की प्रवृत्ति के समान अधिक बलवान है-**शरीरारम्भकस्य कर्मणः नियतफलत्वात् सम्यग्ज्ञानप्राप्तौ अपि अवश्यम्भाविनी प्रवृत्तिः वाङ्मनःकायानाम् लब्धवृत्तेः कर्मणः बलीयस्त्वात् मुक्तेष्वादि प्रवृत्तिवत्**’ (बृ.भा.१.४.७)। ( २१.२ )

‘एक पुरुष को अपने हृदय से ही जिसकी प्रतीति होती है, ऐसे ब्रह्मज्ञान और देहधारण का अन्य पुरुष द्वारा आक्षेप कैसे किया जा सकता है? श्रुति-स्मृति में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों के निर्देश से भी यही कहा जाता है-**कथं हि एकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं च अपरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत? श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेन एतदेव निरुच्यते**’ (सू.भा. ४.१.१५)। ( २१.३ )

साधक को पहले शास्त्र से यह निश्चय करना होता है कि कौन सा कर्म करने योग्य है- **‘तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ**’ (गीता. १६.२४)। शास्त्रानुसार उस कर्म के लिये निमित्तमात्र होना होता है ( **निमित्तमात्रं भव**, गीता ११.३३); फल में निरासक्त होना होता है ( **मा कर्मफल हेतुर्भूः**, गी. २.४७)। ( २१.४ )

‘**अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**’-इस जीवात्मा रूप से प्रवेश करके नामरूपों को रचता हूँ (छा. ६.३.२)। ( २१.५ )

यही है ईश्वर का अहंकार **‘अविद्यासंयुक्तम् अव्यक्तम्**’ (गी.भा. ७.४)। ( २१.५ )

‘**अयं वे दश च सहस्राणि बहूनि च प्राणि भेदस्य आनन्त्यात्**’- वही दस, सहस्र, बहु, अनन्तरूप है, क्योंकि प्राणि विशेष अनन्त हैं। (बृ. भा. २.५.१९) ( २४.१ )

‘**शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम्**’-सौ, हजार, दस हजार, न्यर्बुद, असंख्यजीव इसमें छिपे हुये हैं (अथर्वसंहिता १०.८.२४)। ( २४.१ )

‘**ग्रहणग्राहकाभासं विषयिविषयाभासं, विज्ञानस्पन्दितं स्पन्दितमिव स्पन्दितमविद्यया**’- अचल आत्मा ही अविद्या से विषयी और विषय के रूपों में भासता है (मां. का. भा. ४.४७)। ( २४.१ )

‘इन्द्रियगोचर विकार भी कारणतत्त्व ही है, नहीं तो वह विकार अस्तित्व में ही नहीं आ सकता था-**कार्याकारोऽपि कारणस्य आत्मभूत एव अनात्मभूतस्य अनारभ्यत्वात्**’ (सू.भा.२.१.१८)। ( २४.२ )

‘कार्य-कारणअनत्यत्व कहने पर भी कार्य कारणस्वरूप का है, न कि कारण कार्यस्वरूप का है-*अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं*’ (सू.भा.२.१.९)। (२४.२)

समस्त विश्व ब्रह्म है-*‘ब्रह्मैवेदं विश्वम्’* (मु.२.२.११)। (२४.२)

‘तत्त्वमसि’-वह तुम ही हो (छा. ६.८.७)। (२४.२)

आत्मस्वरूप का आश्रय लेने से बाह्याकार (सामने रहने पर भी) भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है-*‘बाह्याकार भेदबुद्धि निवृत्तिरेव आत्मस्वरूपावलंबन- कारणम्’* (गी.भा. १८.५०)। (२४.२)

शुद्धात्मा अन्वेष्टव्य है, विजिज्ञासितव्य है-*‘सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः’* (छा. ८.७.१)। (२५.१)

‘आत्मैवेदं सर्वम्’-यह सब कुछ आत्मा ही है (छा. ७.२५.२)। (२५.१)

‘यः तु आत्मशब्दस्य इतिपरः प्रयोगः आत्मशब्दप्रत्ययोः आत्मतत्त्वस्य परमार्थतोऽविषयत्वज्ञापनार्थम्’-आत्मा शब्द का जो ‘इति’ शब्द लगाकर प्रयोग किया गया है वह परमार्थतः आत्मशब्द और आत्मप्रत्यय का अविषयत्व सूचित करने के लिये है (बृ.भा.१.४.७)। (२५.१)

‘ननु आत्मा अहंप्रत्ययविषयत्वात् उपनिषत्सु एव विज्ञायते इति अनुपपन्नम्? न। तत् साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्’-आत्मा ‘मैं’ इस प्रतीति का विषय होने से उपनिषदों से ही जाना जाता है, यह कथन अयुक्त है न? नहीं। क्योंकि कह चुके हैं कि आत्मा उसका भी साक्षी है (सू.भा. १.१.४)। (२५.१)

‘यथा मृद्घटाद्याकारेण, यथा वा रज्ज्वादि सर्पाद्याकारेण बुद्धिपरिकल्पितेन। असदेव तर्हि सर्वं यद्गृह्यते रज्जुरिव सर्पाद्याकारेण? न। सत एव द्वैत भेदन अन्यथा गृह्यमाणत्वात् न असत्त्वं कस्यचित् क्वचित्’-जिस प्रकार कि मृत्तिका घटादि के आकार से अथवा जिस प्रकार बुद्धि से परिकल्पित सर्पादि आकार से रज्जु उत्पन्न होती है। (यदि कहो कि) तब तो रज्जु जिस प्रकार सर्पादि आकार से ग्रहण की जाती है उसी प्रकार जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह असत् ही है (तो इसका उत्तर है) नहीं। द्वैतभेद के कारण सत् ही अन्यथारूप से गृहीत होने के कारण कभी भी किसी भी पदार्थ की असत्ता नहीं है (छा. भा. ६.२.३)। (२५.२)

‘सद् एव सोम्य इदम् अग्र आसीत्’-सोम्य! यह पहले सत् ही था (छा.६.२.१)। (२५.२)

‘स्वप्नदृश्य जैसे जाग्रद्दृश्य भी असत् है। इसके बारे में शंका नहीं की जा सकती... वह मिथ्या ही है-*जाग्रद् दृश्यानामपि.... असत्त्वं स्वप्नदृश्यवत् अनाशंकनीयम्.....मिथ्यैव ते*। (मां. का. भा. २.७)। (२५.२)

‘यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति एवं कार्यम् अपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति’-जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालों में सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता, उसी प्रकार, कार्य जगत् भी तीनों कालों में सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता है (सू.भा. २.१.१६)। (२५.२)

‘नामरूपोपाध्यस्तित्वे-एकमेवाद्वितीयम् नेह नानास्ति किञ्चन इति श्रुतयः विरुध्येरन्निति चेत्? न।

यदा तु परमार्थं दृष्ट्या.....मृदादिविकारवद्वस्त्वन्तरे तत्त्वतो न स्तः.....तदा तदपेक्ष्य एक- मेवाद्वितीयम्, नेह नानास्ति किञ्चन इत्यादि परमार्थदर्शनम्.....यदा तु अविद्यया.....नामरूपोपा- धिदृष्टिरेव च भवति स्वाभाविकी, तदा सर्वोऽयं वस्त्वन्तरास्तित्वव्यवहारः '-किन्तु नाम-रूप उपाधि की सत्ता स्वीकार करने पर तो एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, यहाँ नाना कुछ नहीं है, इन श्रुतियों से विरोध होगा ऐसा कहें तो? नहीं। जब परमार्थदृष्टि से मृत्तिकादि के विकार के समान ही परमात्मतत्त्व से वस्तुतः भिन्न कोई पदार्थ नहीं रहते, तब उस दृष्टि की अपेक्षा से ही एक ही अद्वितीय है, यहाँ नाना कुछ नहीं है इस परमार्थदर्शन का बोध होता है। परन्तु जब स्वाभाविकी अविद्या के कारण नाम-रूप उपाधि की ही दृष्टि रहती है, तब उस समय यह ब्रह्म से भिन्न वस्तु की सत्ता से सम्बन्ध रखनेवाला सारा व्यवहार होता है। (बृ.भा.३.५.१) ( २५.२ )

'नेह नानास्ति किञ्चन'-(ब्रह्म में) किञ्चित भी नानात्व नहीं (बृ.४.४.१८) ( २५.२ )

एक प्रमाण दूसरे प्रमाण के विरुद्ध नहीं होता है; दूसरे को जो विषय नहीं है उसी को वह समझाता है-'न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते, प्रमाणान्तराविषयमेव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति' (बृ.भा.२.१.२०)। ( २५.२ )

अपने से अलग जो कुछ अन्य दिखायी देता है वह अविद्याकृत होने से, विद्या के द्वारा उसका अवस्तुत्व दिख पड़ता है। मोतियाबिन्द रहित नेत्रवान् को जो नहीं दिखायी पड़ता वही द्वितीयचन्द्र का असत्त्व है-'अन्यस्य च अविद्याकृतत्वे विद्यया अवस्तुत्वदर्शनोपपत्तिः। तद्वि द्वितीयचंद्रस्य असत्त्वं यद् अतैमिरिकेण चक्षुष्मता न गृह्यते' (तै भा. २.८७)। ( २५.२ )

'जो ब्रह्म, क्षत्र (लोक, देवता, भूत, या कुछ भी) को आत्मा से अलग देखता है, उस मिथ्यादर्शी का वही मिथ्यादृष्ट जगत् निराकरण कर देता है', कहकर भेददृष्टि की निन्दा करके 'ये सब कुछ आत्मा ही है', इस प्रकार सर्ववस्तुजात की आत्मा से अभिन्नत्व की अवतरणिका की है-'यो हि ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत् आत्मनो अन्यत्र स्वातन्त्र्येण लब्धसद्भावं पश्यति तं मिथ्यादर्शिनं तद् एव मिथ्यादृष्टं ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत् पराकरोति इति भेददृष्टिम् अपोद्य इदं सर्वं यद् अयमात्मा इति सर्वस्य वस्तुजातस्य आत्माव्यतिरेकम् अवतारयति' (सू.भा.१.४.१९)। ( २५.२ )

'एकम् एव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म इह पुनः व्यवहारविषयम् आपेक्षिकं सत्यं मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षया उदकादि सत्यम् उच्यते। अनृतं च तद् विपरीतम्। किं पुनः एतत् सर्वम् अभवत्? सत्यं परमार्थसत्यम्'-परमार्थ सत्य एकमात्र ब्रह्म ही है। यहाँ तो व्यवहारविषयक सत्य से ही तात्पर्य है, जैसे कि मृगतृष्णा आदि असत्य की अपेक्षा से जल आदि को सत्य कहा जाता है। उससे विपरीत (मृगतृष्णा) को अनृत कहा जाता है। तो फिर यह सब भी क्या हो गया? सत्य, परमार्थसत्य (तै.भा.२.६.१)। ( २५.३ )

इतना ही नहीं, व्यवहार भी मिथ्या नहीं है। ज्ञानी के लिये सर्वव्यवहार और सर्वविकार सदरूप से देखने के कारण सत्य ही है-'सदात्मना सत्यत्व अभ्युपगमात्.....सर्वव्यवहाराणां सर्वविकाराणां च सत्यत्वं' (छा.भा. ६.३.२)। ( २५.३ )

आत्मज्ञान से पूर्व, उत्पत्ति और प्रलय अपने से भिन्न सत् से होते थे। किन्तु अब, सत् का आत्मत्व ज्ञात होने पर वे अपनी आत्मा से ही होने लगे। इसी प्रकार ज्ञानी का और भी सब व्यवहार आत्मा से होने लगता है—‘**प्राक् सदात्मविज्ञानात् स्वात्मनः अन्यस्मात् सतः.....उत्पत्तिप्रलयौ अभूताम्। सदात्मविज्ञाने तु सति इदानीं स्वात्मत एव संवृत्तौ। तथा सर्वोऽप्यन्यो व्यवहारः आत्मनः एव विदुषः**’ (छा.भा. ७.२६.१) ( २५.३ )

अविद्यायुक्त जीव नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव ब्रह्म से अलग नहीं है, लेकिन ब्रह्म उससे अलग है। ‘**परमात्मनः जीवाद् अन्यत्वं, जीवस्य तु न परस्माद् अन्यत्वम्**’ (सू.भा. १.३.१९)। ( २५.४ )

ब्रह्म ने अपने को ब्रह्म समझा—‘**आत्मानम् एवावेत् अहंब्रह्मास्मि इति**’ इसके भाष्य में कहा है—‘**ब्रह्मणि अविद्यानुपपत्तिः इति चेत्? न। ब्रह्मणि विद्या विधानात्।.....न ब्रूमः.....ब्रह्मणि अतद्धर्माध्यारोपणा नास्तीति। किं तर्हि? न ब्रह्म स्वात्मनि अतद्धर्माध्यारोपण निमित्तम् अविद्याकर्तृ च इति। भवतु एवं न अविद्याकर्तृ भ्रान्तं च ब्रह्म। किंतु न एव अब्रह्म अविद्याकर्ता चेतनो भ्रान्तोऽन्यः इष्यते**’ किन्तु ब्रह्म में अविद्या होना ही असंगत है? नहीं, क्योंकि ब्रह्म में विद्या का विधान किया गया है। पूर्वपक्षीः— हम यह नहीं कहते कि ब्रह्म में अब्रह्म के धर्मों का आरोप नहीं है। तो फिर क्या कहते हैं? यही कि ब्रह्म अपने में अब्रह्म धर्मों के आरोप का निमित्त और अविद्या करने वाला नहीं है। सिद्धान्तीः—यह हो सकता है कि ब्रह्म अविद्या का कर्ता और भ्रान्त न हो, किंतु अविद्या का कर्ता कोई अन्य अब्रह्म भ्रान्त चेतन है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। (बृ. भा.१.४.१०) ( २५.४ )

‘**देहादि संघाताः आत्ममाया विसर्जिताः। आत्मनः माया अविद्या, तथा प्रत्युपस्थापिताः**—देहादि संघात आत्ममाया विसर्जित है। आत्मा की माया है अविद्या जिससे वे सामने उपस्थापित है’ (मा. का. भा. ३.१०) ( २५.४ )

‘**पर एव आत्मा यः पूर्वं सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म इति प्रकृतः। यस्मादात्मनः.....संघाताः आत्ममाया विसर्जिताः सत्यं ज्ञानं अनन्तं**’ ब्रह्म ही प्रकृत पर आत्मा है। उसी आत्मा से विसर्जित संघात आत्ममाया विसर्जित संघात है (मा. का. भा. ३.११) ( २५.४ )

‘**अहंकार इति अविद्यासंयुक्तम् अव्यक्तम्**’—अहंकार का अर्थ है अव्यक्त से संयुक्त अविद्या। (गीता. भा. ७.४) ( २५.४ )

‘**अविद्यादि अनेकसंसारबीजम् अन्तर्दोषवत् माया**’—माया में जीवों के अविद्यादि अनेक संसारबीजदोष छुपे हुये हैं। (गी.भा. १२.३) ( २५.४ )

‘**प्रकृतिस्थत्वाख्या अविद्या संसारस्य कारणम्**’—प्रकृति में छुपी हुयी अविद्या संसार का कारण है। (गी.भा. १३.२१) ( २५.४ )

‘**प्रकृत्या.....अविद्यारूपः संयोगः संसारः**’—संसार का कारण है प्रकृति से अविद्या का संयोग। (गी. भा. १३.२०) ( २५.४ )



‘अविद्या विपरीतग्राहकः संशयोपस्थापकः अग्रहणात्मको वा’—अग्रहण, संशय या अन्यथाग्रहण अविद्या है। (गी.भा. १३.२)। ( २५.४ )

‘यदि ज्ञानाभावः यदि संशयज्ञानं यदि विपरीतज्ञानं वा उच्यते अज्ञानम् इति, सर्वं हि तत् ज्ञानेन एव निवर्त्यते’—चाहे ज्ञानाभाव हो, चाहे संशयज्ञान हो, चाहे विपरीतज्ञान हो, जिसको भी अज्ञान कहा जाता है, वे सब अज्ञान से ही निवृत्त होते हैं। (बृ.भा. ३.३.१)। ( २५.४ )

‘रूपं रूपं प्रतिरूपोबभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय’—वह रूप रूपके प्रतिरूप हो गया। इसके रूप समझाने के लिये। ( २५.४ )

‘यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते, तदा अस्य आत्मनो निरुपाधिकं रूपं प्रज्ञानघनाख्यं न प्रतिख्यायेत’ यदि नामरूपों की अभिव्यक्ति नहीं हुयी होती तो इस आत्मा का प्रज्ञानघनसंज्ञक निरुपाधिक रूप समझ में नहीं आता। (बृ.भा. २.५.१९)। ( २५.४ )

‘प्रकृतिश्च त्रिगुणात्मिका सर्वकार्यकरणविषयाकारेण परिणता पुरुषस्य भोगापवर्गार्थ- कर्तव्यतया देहेन्द्रियाद्याकारेण संहन्यते’—समस्त कार्य करण और विषयों के आकार में परिणत हुयी त्रिगुणात्मिका प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने के लिये देह-इन्द्रियादि आकार से मूर्तिमान होती है (गी.भा.१३ का संबंधभाष्य)। ( २५.४ )

‘नित्येश्वरत्वाद् ईश्वरस्य तत्प्रकृत्योः अपि युक्तं नित्यत्वेन भवितुम्। प्रकृतिद्वयवत्वम् एव हि ईश्वरस्य ईश्वरत्वम्’—ईश्वर का ईश्वरत्व नित्य होने के कारण उसकी दोनों प्रकृतियों का भी नित्य होना उचित ही है, क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों से युक्त होना ही ईश्वर की ईश्वरता है (गी.भा.१३.१९)। ( २५.४ )

‘धाता यथापूर्वमकल्पयत्’—ईश्वर ने यथापूर्व सृष्टि की (ऋ.संहिता १०.१९०.३)। ( २५.४ )

‘य एव अविद्यादिदोष निवृत्ति फलकृत्प्रत्ययः आद्यः अन्त्यः सन्ततः असन्ततो वा स एव विद्या’—जो भी प्रत्यय अविद्यादि दोषों की निवृत्तिरूप फल प्रदान करने वाला हो, वह आद्य, अन्त्य, संतत, असंतत, कैसा भी हो, वही विद्या है (बृ.भा. १.४.१०)। ( २५.४ )

‘आत्मविषयं विज्ञानं यत्कालम्, तत् काले एव तद्विषय-अज्ञानतिरोभावः स्यात्। अतः ब्रह्मविद्यायां सत्याम् अविद्याकार्यानुपपत्तेः प्रदीप इव तमः कार्यस्य’—जिस समय आत्मविषयक ज्ञान होता है उसी समय तद्विषयक अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अतः जिस प्रकार दीपक के रहते हुये अन्धकार का कार्य नहीं रहता उसी प्रकार ब्रह्मविद्या के रहते हुये अविद्या का कार्य नहीं रह सकता (बृ.भा.१.४.१०)। ( २५.४ )

‘अहम् अन्नम् अहम् अन्नादः अहं श्लोककृत्’—मैं अन्न हूँ, मैं अन्न को खाने वाला हूँ, मैं अन्न और खाने वाले का संयोग करने वाला ईश्वर हूँ। (तै.अ.१०.६); ‘अहं मनुरभवं सूर्यश्च’—मैं मनु और सूर्य हूँ। (बृ. १.४.१०); ‘विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः’—विद्वान्

और विनीत ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चण्डाल, ज्ञानी इन सबको समदृष्टि से देखते हैं। (गीता. ५.१८)। ( २५.५ )

### ब्रह्मसूत्रों का दिग्दर्शन

यह ठीक है कि वाणी से, मन से, आँख से या और किसी इन्द्रिय से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु इस प्रकार सर्वविशेषरहित होने पर भी, चूँकि यह ज्ञात है कि वह जगत् का कारण है, वह (ब्रह्म) है ही। 'नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा न अन्यैः अपि इन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यते इत्यर्थः। तथापि सर्वविशेष रहितः अपि जगतः मूलम् इति अवगतत्वात् अस्ति एव ( ब्रह्म )' (क.भा. २.३.१२)। ( १ )

'ब्रह्म सत्य-ज्ञान-अनन्त है इस यथोक्त लक्षणवाले आत्मा के ज्ञान के लिये ही ब्रह्म में अनेक होना, सृष्टि में अनुप्रवेश करना, आनन्द की प्राप्ति, अभय और संक्रमणादि संपूर्ण व्यवहार की कल्पना की गयी है- 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म इति यथोक्तलक्षण आत्मप्रतिपत्त्यर्थमेव बहुभवन सर्गप्रवेश-रसलाभ-अभय-संक्रमणादि परिकल्प्यते ब्रह्मणि सर्वं व्यवहार विषये' (तै.भा.२.८.५)। ( १ )

'न असत्त्वं कस्यचित् क्वचित्'-कुछ भी कभी भी असत् नहीं (छा.भा. ६.२.३) ( १ )

'सदेव सोम्येदमग्रासीत् एकमेवाद्वितीयं.....तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत'-हे सोम्य! आरम्भ में यह (जगत्) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उस सत् ने ईक्षण किया 'मैं बहुत हो जाऊं-अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ'। उसने तेज उत्पन्न किया (छा.६.२१.१-३)। ( १ )

'यत् तु उक्तं परिनिष्पन्नत्वात् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुः इति तदपि मनोरथमात्रम्।..... आगममात्रसमधिगम्य एव तु अयम् अर्थः धर्मवत्।.....को अब्दा वेद क इह प्रवोचत्, इयं विसृष्टिर्यत् आबभूव इति चेते ऋचौ सिद्धानाम् अपि ईश्वराणां दुर्बोधतां जगत्कारणस्य दर्शयतः.....न अनेन मिषेण शुष्कतर्कस्य अत्र आत्मलाभः संभवति'-जो यह कहा गया है कि सिद्धवस्तु होने से ब्रह्म में अन्य प्रमाणों का संभव होगा, वह भी मनोरथमात्र है। ब्रह्म तो धर्म के समान केवल आगममात्र से अधिगम्य है। यह विविध सृष्टि जिससे उत्पन्न हुयी है 'कौन साक्षात् उसे जानता है और कौन उसे ठीक-ठीक समझा सकता है?' (ऋ.स.१/३०/६), ये दोनों ऋचाएं जगत् के कारण के विषय में सिद्ध ईश्वरों का भी दुर्विज्ञेयत्व दिखलाती हैं। (अन्य प्रमाणों की संभावना को बताने वाले श्रुतिवचन) के बहाने यहाँ शुष्क तर्क का होना संभव नहीं है' (सू.भा. २.१.६)। ( १ )

### जिज्ञासाधिकरण

पुरुषसामान्य को अन्वय होने वाले जप, उपवास, देवताराधन आदि धर्मविशेषों के कारण विद्या का अनुग्रह होता है- 'पुरुषमात्रसम्बन्धिभिः जपोपवासदेवताराधनादिभिः धर्मविशेषैः अनुग्रहः विद्यायाः सम्भवति' (सू.भा. ३.४.३८)। ( २.१ )

‘हृदयस्य अग्रे अवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः’-पहले हृदय के अग्र भाग को काटना है, फिर जीभ को और फिर छाती को (तै. सं. ६.३.१०.१०) ( ३.१ )

‘तम् एतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन’-इस आत्मा को ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं (बृ. ४.४.२२)। ( ५.१ )

‘न कर्मणाम् अनारम्भान् नैष्कर्म्यम् पुरुषः अश्नुते’-कर्मों का आरंभ किये बिना (अर्थात् न करने से) पुरुष नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं करता (गीता ३.४)। ( ५.१ )

**पूर्वपक्षी:** किन्तु ज्ञात न होने में समान होने के कारण, आत्मा और अनात्मा दोनों ही ज्ञातव्य हैं। फिर ‘आत्मेत्येवोपासीत’ इस कथन के अनुसार आत्मोपासना में ही क्यों यत्न करने की आस्था की जाये, अनात्मोपासना में क्यों नहीं? **सिद्धान्ती:** इस पर हमारा कथन है कि यह प्रकृत आत्मा ही पदनीय, अर्थात् गन्तव्य है, अन्य अनात्मा नहीं। श्लोक में आये ‘अस्य सर्वस्य’ है इन पदों में निश्चयार्थिका षष्ठी है; इसका तात्पर्य है ‘अस्मिन् सर्वस्मिन्’ (इस सब में)। ‘यदयात्मा’ का अर्थ होता है जो यह आत्मतत्त्व है (वह सबमें है)।

तो क्या अन्य (अनात्मा) ज्ञातव्य नहीं है? ऐसी बात नहीं है। तो क्या है? ज्ञातव्य होने पर भी उसे जानने के लिये आत्मज्ञान से भिन्न कोई अलग ज्ञान नहीं चाहिये। क्यों नहीं चाहिये? क्योंकि इस आत्मा को जान लेने पर अन्य जो कुछ अनात्मजात है, उस सबको पुरुष जान लेता है-**अनिर्ज्ञातत्वसामान्यात् आत्मा ज्ञातव्यः अनात्मा च। तत्र कस्मात् आत्मोपासने एव यत्न आस्थीयते ‘आत्मेत्येवोपासीत’ इति, न इतर विज्ञाने इति? अत्र उच्यते-तद् एतद् एव प्रकृतं पदनीयं गमनीयं न अन्यत्। ‘अस्य सर्वस्य’ इति निर्धारणार्था षष्ठी। अस्मिन् सर्वस्मिन् इति अर्थः। ‘यदयमात्मा’ यदेतदात्मतत्त्वम्। किं न विज्ञातव्यम् एव अन्यत्? न। किं तर्हि, ज्ञातव्यत्वे अपि न पृथग्ज्ञानान्तरम् अपेक्षते आत्मज्ञानात्। कस्मात्? अनेनात्मना ज्ञातेन हि यस्माद् एतत् सर्वम् अनात्मजातम् अन्यद् यत् तत् सर्वं समस्तं वेद जानाति (बृ. भा. १.४.७)। ( ९.१ )**

‘अविद्यथैव अनात्मत्वं परिकल्पितं, न तु परमार्थतः आत्मव्यतिरेकेण अस्ति किञ्चित्’-अविद्या से ही अनात्मत्व परिकल्पित है, परमार्थतः तो, आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। (बृ. भा. २.४.१४) ( ९.१ )

‘अप्राप्य मनसा सह’-ब्रह्म मन से भी अप्राप्य है (तै २.४)। ( ११.१ )

‘मनसैवानुद्रष्टव्यम्’-ब्रह्म को मन से ही देखना चाहिये (बृ.४.४.१९)। ( ११.१ )

‘अत्यन्तनिर्मलत्व अतिस्वच्छत्व अतिसूक्ष्मत्व उपपत्तेः आत्मनः बुद्धेः च आत्मसमनैर्मल्याद् उपपत्तेः आत्मचैतन्याकाराभासत्व उपपत्तिः’-आत्मा अतिनिर्मल, अतिस्वच्छ और अतिसूक्ष्म है। आत्मा के ही समान निर्मल, स्वच्छ और सूक्ष्म बुद्धि आत्मचैतन्य के आकार से आभासित हो सकती है (गी.भा. १८.५०)। ( ११.२ )

‘अकल्पकं सर्वकल्पनावर्जितं....ज्ञानं....ज्ञेयेन परमार्थसता ब्रह्मणा अभिन्नं....सत्यं ज्ञानं अनन्तम् इत्यादि श्रुतिभ्यः’-सर्वकल्पनारहित....ज्ञानं....परमार्थसद्रूप ज्ञेय ब्रह्म से भिन्न नहीं है। सत्य-ज्ञान-अनन्त ब्रह्म इत्यादि श्रुति ही इसमें प्रमाण है (मां. का. भा. ३.३३)। ( ११.२ )

‘ब्रह्म ज्ञेयं यस्य स्वस्य तदिदं ब्रह्म ज्ञेयम्’-जो ब्रह्म अपने को ज्ञेय है वह ज्ञेयब्रह्म है (मां. का. भा. ३.३३)। ( ११.३ )

‘यह जल के समान स्वच्छ है, अद्वितीय है। इसलिये यही अभय यही परमात्मा है। यही जीव की परमगति है, परमसंपत्ति है, परमलोक है, परमानन्द है-सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवति....एषास्य परमागतिः एषास्य परमासंपत् एषोऽस्य परमो लोकः एषोऽस्य परम आनन्दः’ (बृ.४.३.३२)। ( ११.४ )

‘तेन आत्मस्वरूपेण अजेन ज्ञानेन अजं ज्ञेयम् आत्मतत्त्वं स्वयमेव विबुध्यते’-वह ज्ञान अज है, अपना स्वरूप है, अज ज्ञेय के द्वारा ‘आत्मतत्त्व स्वयं है’ इस प्रकार समझता है, निश्चय करता है (मां. का. भा. ३.३३)। ( ११.४ )

‘बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते’-बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानी मुझे प्राप्त करता है (गीता ७.१९)। ( ११.४ )

‘ब्रह्म विजिज्ञासस्व’-ब्रह्म को विशेषरूप से जानने की इच्छा करो (तै. भा.३.१) ( ११.५ )

‘जैसे धर्मजिज्ञासा में केवल श्रुति आदि प्रमाण है, ब्रह्मजिज्ञासा में उस प्रकार नहीं है। ब्रह्मजिज्ञासा में तो श्रुति आदि और अनुभव आदि यथासंभव प्रमाण होते हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञान सिद्धवस्तुविषयक है और ब्रह्मज्ञान की चरमसीमा अनुभव है-न धर्मजिज्ञासायाम् इव श्रुत्यादयः एव प्रमाणम् ब्रह्मजिज्ञासायाम् किन्तु श्रुत्यादयः अनुभवादयः च यथासम्भवम् इह प्रमाणम् अनुभवावसानत्वात् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य।’ (सू.भा. १.१.२) ( ११.५ )

‘ब्रह्म अयम् आत्मा। कोऽसौ? यः प्रत्यगात्मा द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा विज्ञाता’-ब्रह्म यह आत्मा ही है। यह आत्मा कौन है? जो प्रत्यगात्मा, द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा (जाननेवाला) और विज्ञाता है (बृ.भा. २.५.१९)। ( १२.१ )

अविद्या के कारण जाग्रत् में अन्तःकरण, चक्षु और रूप आपस में अलग-अलग उपस्थापित रहते हैं। इसलिए विशेषज्ञान प्राप्त होता है। लेकिन ब्रह्म से ये तीनों अभिन्न हैं। अतः एव चैतन्यस्वभाव का होने पर भी ब्रह्म में विशेषज्ञान नहीं है। इसी कारण से जब प्रत्यगात्मा को सुषुप्ति में ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है, तब उसे विशेषज्ञान नहीं होता।-यद् हि तद् विशेषदर्शनकारणम् अन्तःकरणं चक्षुः रूपं च, तदविद्यया अन्यत्वेन प्रत्युपस्थापितमासीत्। तदेतस्मिन् काले एकीभूतम् आत्मनः परेण परिष्वंगात्। ....अयं तु सर्वात्मना संपरिष्वक्तः स्वेन परेण प्राज्ञेन आत्मना प्रिययेव पुरुषः। तेन न पृथक्त्वेन व्यवस्थितानि करणानि विषयाश्च। तदभावात् विशेषदर्शनं नास्ति। (बृ. भा. ४.३.२३) ( १२.१ )

## जन्माद्यधिकरण

‘एतत् अप्रमयम्’-यह अप्रमेय है (बृ.४.४.२०) ( १ )

‘अदृश्यम् अग्राह्यम्’-अदृश्य, अग्राह्य है (मु.१.१.६) ( १ )

‘अप्राप्य मनसा सह’-मन से भी अप्राप्य है (तै.२.४) ( १ )

‘ठीक है, वाणी से हो, मन से हो, आंख से हो या अन्य इन्द्रियों से हो, इसका ज्ञान साध्य नहीं है। परन्तु इस प्रकार सर्वविशेषरहित होने पर भी, यह तो ज्ञात है ही कि ब्रह्म जगत्कारण है। इसलिये वह है ही- **नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा न अन्यैः अपि इन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यते। तथापि सर्वविशेषरहितः अपि जगतः मूलम् इति अवगतत्वात् अस्ति एव ( ब्रह्म )**’ (क.भा.२.३.१२)। ( १ )

‘सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्’-ईश्वर ने इस सूर्य चन्द्रादि रूप जगत् की पहले के समान सृष्टि की (ऋ.स.१०.१९०.३) ( १.१ )

‘परमात्मा से यह जगत्, अग्नि से विस्फुलिङ्गों के समान सदा उत्पन्न होता रहता है, जिस परमात्मा में ही जल में बुलबुले के समान यह लीन हो जाता है तथा स्थितिकाल में जिसके स्वरूप से वर्तमान रहता है-**आत्मनः स्थावरजङ्गमं जगदिदम् अग्निविस्फुलिङ्गवद् व्युच्चरति अनिशम्, यस्मिन् एव च प्रलीयते जलबुद्बुदवत् यदात्मकं च वर्तते स्थितिकाले**’ (बृ.भा.२.१.२०)। ( १.१ )

‘रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय’-वह रूप रूप के प्रतिरूप हो गया, उसके रूप को समझाने के लिये (बृ.२.५.१९)। ( १.१ )

‘आत्मा ह्याकाशवज्जीवैः घटाकाशैरिवोदितः। घटादिवच्च संघातैः जातावेतन्निदर्शनम्’-घटाकाश जैसे जीवों के रूप से, घटादि जैसे संघातों के रूपों से आत्मा पैदा होता है। पैदा होने के लिए यह दृष्यन्त है। (मां. का. भा. ३.३)। ( २.२ )

‘सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्’-व्यावहारिक प्रातिभासिक सत्यरूपी जगत् पारमार्थिक सत्य ही है। (तै. भा. २.६)। ( २.२ )

‘क्षेत्रज्ञं च अपि मां विद्धि’-क्षेत्रज्ञ भी मैं ही हूँ (गी. १३.२)। ( २.२ )

‘परमात्मनः तु स्वरूपव्यपाश्रयम् औदासीन्यं मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वम्’-परमात्मा में स्वरूपाश्रय से उदासीनता है और माया के आश्रय से प्रवृत्ति है (सू. भा. २.२.७)। ( २.२ )

यहाँ माया का अर्थ है प्रवृत्ति का कारण-अहंकार, अर्थात् अविद्यासंयुक्त अव्यक्त-‘**अहंकारः इति अविद्यासंयुक्तम् अव्यक्तम्....., प्रवर्तकत्वात् अहंकारस्य**’ (गी. भा. ७.४)। ( २.२ )

‘ब्रह्म जीवरूप से अनुप्रवेश करके नामरूपों को प्रकट करता है-**अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**’ (छा.६.३.२)। ( २.२ )

जगत् सर्वदा है। 'कार्यम् अपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति' (सू.भा.२.१.१६)। (३.१)

'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वा अभिवदन् यदास्ते'-वह धीर सारे रूपों को व्याकृत करके उनके नाम रखकर बुला रहा है (तै.आ.३.१२.७)। (४.१)

'सः अकामयत'-उसने इच्छा की (तै.२.६)। (४.१)

'सः ईक्षत, सः ईक्षांचक्रे'-उसने देखा (ऐ.१.१.१; प्र.६:३)। (४.१)

गणना के लिये मिलने वाला सापेक्षकाल ब्रह्म है-'कालः कलयताम् अहम्' (गी. १०.३०)। (४.२)

जिसकी गणना नहीं की जा सकती वह अक्षयकाल भी ब्रह्म ही है-'अहम् एव अक्षयः कालः' (गी. १०. ३३)। (४.२)

जैसे-जैसे घटनाओं का विकास होता है अक्षयकाल ही सापेक्षकाल के रूप में व्यक्त होने लगता है-'कालः अस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः' (गी. ११.३२)। (४.२)

'प्रागुत्पत्तेः अव्याकृतनामरूपभेदम् आत्मभूतम् आत्मैकशब्द-प्रत्ययगोचरं जगत् इदानीं व्याकृतनामरूपभेदत्वात् अनेकशब्दप्रत्ययगोचरम् आत्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं च'-उत्पत्ति से पूर्व यह आत्मभूत जगत् नामरूपादिभेद व्यक्त न होने के कारण एक 'आत्मा' शब्द की प्रतीति का ही विषय था और इस समय नामरूपादि भेद के व्यक्त हो जाने से वह अनेक शब्दों की प्रतीति का विषय तथा एकमात्र 'आत्मा' शब्द की प्रतीति का विषय भी हो रहा है (ऐ. भा. १.१.१)। (४.२)

'यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यम् अस्ति सः असर्वज्ञः इति विप्रतिषिद्धम्'-सब पदार्थों को प्रकाशित करने वाला जिसका ज्ञान नित्य है उसे असर्वज्ञ कहना विरुद्ध है (सू.भा. १.१.५)। (४.४)

'सर्वज्ञ स्वभाव है-सः सर्वज्ञस्वभावः' (ऐ.भा.१.१.१)। (४.४)

'सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः'-ज्ञानी को सर्वज्ञत्व सदा यहाँ है (मां. का. भा. ४.८९)।

'सा शक्तिः ब्रह्म एव अहं शक्तिशक्तिमतोः अनन्यत्वात्'-वह शक्ति ब्रह्म ही मैं हूँ क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं होता (गी. भा. १४.२७)। (४.५)

'मम स्वभूता मदीया माया'- मेरी स्वरूपभूत मेरी माया (गी. भा. १४.३) इत्यादि। (४.५)

'न च गिरिनदी समुद्रादिषु नानाविधेषु नामरूपेषु अनीश्वरस्य जीवस्य व्याकरणसामर्थ्यम् अस्ति'-गिरि, नदी, समुद्र आदि नाना प्रकार के नाम और रूपों की सृष्टि करने का सामर्थ्य अनीश्वर जीव में नहीं है (सू.भा.२. ४.२०)। (६.१)

इस अव्यक्त में जीवों के अविद्यादि अनेक संसारबीजदोष छिपे हैं-'अविद्याद्यनेकसंसारबीज- रूपमन्तर्दोषवत् माया' (गी. भा. १२.३)। (६.२)

परमार्थदृष्टि में जगत् प्रकृति से अनन्य है और प्रकृति ब्रह्म से अनन्य है—‘कारणस्य आत्मभूता शक्तिः, शक्तेः च आत्मभूतं कार्यं’ (सू.भा.२.१.१८)। (६.२)

‘अग्नि ठण्डी है अथवा अप्रकाशक है ऐसा कहनेवाली सैकड़ों श्रुतियां भी प्रमाण नहीं मानी जा सकती हैं। यदि श्रुति कहे कि ‘अग्नि ठण्डी है अथवा अप्रकाशक है’ तो ऐसा मान लेना चाहिये कि श्रुति को कोई और ही अर्थ अभीष्ट है, क्योंकि किसी अन्य प्रकार से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। परन्तु प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों के विरुद्ध या श्रुति के अपने वचनों के विरुद्ध श्रुति के अर्थ की कल्पना करना उचित नहीं है—**न हि श्रुतिशतम् अपि शीतः अग्निः अप्रकाशो वा इति ब्रुवत् प्रामाण्यम् उच्यते। यदि ब्रूयात् शीतः अग्निः अप्रकाशो वा इति तथापि अर्थान्तरं श्रुतेः विविक्षितं कल्प्यं प्रामाण्य-अन्यथा-अनुपपत्तेः न तु प्रमाणान्तरविरुद्धं स्ववचनविरुद्धं वा**’ (गी.भा. १८.६६)। (८.४)

‘एक प्रमाण का दूसरे प्रमाण से विरोध नहीं होता। जो वस्तु एक प्रमाण से नहीं जानी जाती उसी को दूसरा प्रमाण समझाता है। तथा लौकिक पद और पदार्थों का आश्रय लिये बिना शास्त्र के द्वारा किसी अज्ञातस्वन्तर को नहीं जाना जा सकता—**न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते, प्रमाणान्तराविषयम् एव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति। न च लौकिकपदपदार्थाश्रयव्यतिरेकेण आगमेन शक्यम् अज्ञातं वस्त्वन्तरम् अवगमयितुम्**’ (बृ.भा. २.१.२०)। (८.५)

‘ब्रह्म सिद्धवस्तु होने से उसमें अन्य प्रमाण संभव हो सकते हैं, ऐसा जो कहा है, वह भी मनोरथमात्र ही है, क्योंकि रूपादि का अभाव होने के कारण ब्रह्मवस्तु प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है और लिंगादि के अभाव के कारण अनुमान आदि का विषय नहीं है। यह अर्थ तो धर्म के समान आगममात्र से ही ज्ञातव्य है—**यत् तु उक्तम् परिनिष्पन्नत्वात् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुः इति तदपि मनोरथमात्रम्। रूपाद्यभावाद्धि न अयम् अर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः। लिङ्गाद्यभावाच्च न अनुमानादीनाम्। आगममात्रसमधिगम्य एव तु अयम् अर्थः धर्मवत्**’ (सू. भा. २.१.६)। (८.५)

‘यहाँ श्रुति से अनुग्रहीत तर्क का अनुभव के सहायक रूप से ग्रहण किया गया है। स्वप्नावस्था और जाग्रत् अवस्था इन दोनों में परस्पर व्यभिचार होने के कारण आत्मा (प्राज्ञ) इनसे संस्पृष्ट नहीं है, सुषुप्ति में प्रपंच का परित्याग होने से आत्मा सत्स्वरूप आत्मा के साथ एक होकर निष्प्रपंच ब्रह्मस्वरूप हो जाती है। प्रपंच ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है; अतः कार्य कारण से अभिन्न है, इस न्याय से ब्रह्म से प्रपंच अभिन्न है, इस प्रकार का तर्क अंगीकृत होता है—**श्रुत्यनुग्रहीत एव हि अत्र तर्कः अनुभवाङ्गत्वेन आश्रीयते। स्वप्नान्तबुद्धान्तयोः उभयोः इतरेतर व्यभिचारात् आत्मनः अनन्वागतत्वम्, संप्रसादे च प्रपञ्चपरित्यागेन सदात्मना संपत्तेः निष्प्रपञ्चसदात्मकत्वम्, प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रभवत्वात् कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेक इति एवं जातीयकः**’ (सू.भा. २.१.६)। (८.५)

‘**यथा प्रियया संपरिष्वक्तो न बाह्य किंचन वेदनान्तरं**’—स्त्री से आलिङ्गित (पुरुष) अंदर या बाहर कुछ नहीं जानकर (बृ. ४.२.३२) (१०.१)

सुषुप्त्यानन्द ही ब्रह्म का स्वरूपलक्षण आनन्द है-**एषोऽस्य परम आनन्दः** (बृ. ४.३.३२) ( १०.१ )

**‘सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म.....तस्मात् वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः’**-ब्रह्म सत्यज्ञान और अनन्त है। उस इस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ (तै.२.१)। ( १०.१ )

**‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेव अद्वितीयम्.....तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत्’**-हे सोम्य! आरंभ में यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उसने ईक्षण किया कि ‘मैं बहुत हो जाऊं, नाना प्रकार से उत्पन्न होऊं’ (छा.६.२.१-३)। ( १०.१ )

**‘दिव्यो हि अमूर्तः पुरुषः.....अप्राणो हि अमनाः शुभ्रः.....एतस्मात् जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च’**-ब्रह्म दिव्य, अमूर्त, पुरुष, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध है। इससे ही प्राण, मन और सम्पूर्ण इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं (मु.२.१.२-३)। ( १०.१ )

**‘आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीत्.....स इमाल्लोकानसृजत्’**-पहले यह जगत् एकमात्र आत्मा ही था। उस (आत्मा) ने ही इन लोकों की रचना की (ऐ १.१.१-२) ( १०.१ )

### शास्त्रयोनिताधिकरण

**‘सदेव सोम्येदमग्रासीत्** -हे सोम्य! यह सब पहले सत् ही था’ (छा.६.२.१)।

**‘अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत, अव्यक्तनिधानि एव’**-हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अव्यक्त थे, बीच में व्यक्त होते हैं और मरण के बाद फिर अव्यक्त हो जाते हैं (गीता. २.२८)।

**‘प्रलीयमानमपि च इदं जगत् शक्त्यवशेषम् एव प्रलीयते। शक्तिमूलम् एव च प्रभव’**-जगत् का प्रलय होने पर भी इसकी शक्ति शेष रहती है। इसी शक्ति से वह फिर प्रकट होता है (सू.भा. १.३.३०)

**‘एते इति वै प्रजापतिः देवानसृजत्, असृग्रमिति मनुष्यान्, इन्दव इति पितृन्, तिरः पवित्रमिति ग्रहान्, आशव इति स्तोत्रं, विश्वानि इति शस्त्रं, अभिसौभगेति अन्याः प्रजाः’**-‘एते’ कहकर प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि की, ‘असृग्रम्’ से मनुष्यों की, ‘इन्दव’ से पितरों की, ‘तिरः पवित्रं’ से ग्रहों की, ‘आशव’ से स्तोत्र को, ‘विश्वानि’ से शस्त्र की और अभिसौभग से अन्य प्रजाओं की (ताण्ड्य ब्राह्मण ६.९.१५)।

‘वेद की यह सृष्टि सम्प्रदायप्रवर्तन रूप ही है, क्योंकि अनादि और अनन्त वेद की और किसी प्रकार से उत्पत्ति नहीं हो सकती-**उत्सर्गः अपि अयं वाचः संप्रदायप्रवर्तनात्मकः द्रष्टव्यः अनादि निधनायाः अन्यादृशस्य उत्सर्गस्य असम्भवात्’** (सू.भा. १.३.२८)।

**‘जीवस्य.....ईश्वर समानधर्मत्वं.....विद्यमानम् अपि, तत् तिरोहितम् अविद्यादि व्यवधानात्’**-जीव में ईश्वर के समान धर्म रहने पर भी वह अविद्यादि व्यवधान के कारण छुपा रहता है (सू.भा. ३.२.५)।

**‘ईश्वरस्य नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात्’**-ईश्वर सर्वकाल में अविद्या से मुक्त है (सू.भा. ३.२.९)



‘इमे वेदाः यदयमात्मा’-ये वेद यह आत्मा ही हैं (बृ.२.४.६) ।

‘श्रुत्यादयः अनुभवादयः च इह प्रमाणम्’-श्रुति आदि और अनुभव आदि यहाँ प्रमाण हैं (सू.भा.१.१.२)

### समन्वयाधिकरण

‘वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः’-भूतिकाम वायुदेवता को सफेद भेड़ की बलि दे (तै. संहिता २.१.१)  
( १ )

‘वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति’-वायु ही क्षिप्रतम देवता है। अपने भाग से वायु के पास ही पहुंचता है। वही इस को भूति दिलाता है (तै. संहिता २.१.१) । ( १ )

‘सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्गुरुस्य रुद्रत्वम्’-वह रोया। रोने के कारण उसका नाम रुद्र है (तै. स. १.५.१) ।

‘श्रुत्यवगाह्यम् एव इदम् अतिगम्भीरं ब्रह्म न तर्कावगाह्यम्’-यह अतिगम्भीर ब्रह्म श्रुति से ही जाना जा सकता है, तर्क से नहीं (सू.भा. २.१.३१) । ( २.१ )

‘यत्र सर्वम् आत्मा एव अभूत् तत् केन कं पश्येत्, तत् केन कं शृणुयात्’-जहाँ सब आत्मा ही हो जाता है वहाँ किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसको सुने (बृ.४.५.१५) ( ३.१ )

निपुण मति वाले जिनको अज्ञान, संशय, या विपर्ययरूप ‘तत्’ ‘त्वम्’ पदार्थविषयक प्रतिबन्ध नहीं हैं, वे एक बार में ही ‘तत्त्वमसि’ वाक्य का अर्थ अनुभव कर लेते हैं-‘येषां पुनः निपुणमतीनां न अज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धः अस्ति ते शक्नुवन्ति सकृत् उक्तम् एव तत्त्वमसिवाक्यार्थम् अनुभवितम् (सू.भा. ४.१.२) । ( ६.१ )

‘बाह्याकार भेदबुद्धिनिवृत्तिः एव आत्मस्वरूपालम्बने कारणम्’-बाह्य नानाकार भेदबुद्धि की निवृत्ति ही आत्मस्वरूप का आश्रय लेने में कारण है (गी.भा. १८.५०) ( १३.२ )

‘विधिभिः एव इन्द्रादिदेवत्यानि हवींषि चोदयद्भिः अपेक्षितम् इन्द्रादीनां स्वरूपम् । नहि स्वरूपरहिताः इन्द्रादयः चेतसि आरोपयितुं शक्यन्ते’-इन्द्र आदि देवताओं को हवि देने की प्रेरणा करने वाली विधियाँ ही इन्द्रादि के स्वरूप की अपेक्षा रखती हैं। यदि इन्द्रादि देवता वस्तुतः स्वरूपरहित हो तो उनका ध्यान ही नहीं किया जा सकता (सू.भा. १.३.३३) ( १६.१ )

‘शरीरारम्भक कर्म का फल निश्चित होने के कारण सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी वाणी, मन और शरीर की चेष्टा अवश्यम्भाविनी है, क्योंकि जो कर्म फलोन्मुख हो चुका है वह तो छूटे हुये बाण की प्रवृत्ति के समान अधिक बलवान् है-शरीरारम्भकस्य कर्मणो नियतफलत्वात् सम्यग्ज्ञानप्राप्तौ अपि अवश्यम्भाविनी प्रवृत्तिः वाङ्मनःकायानाम् लब्धवृत्तेः कर्मणो बलीयस्त्वात् मुक्तेष्वादिप्रवृत्तिवत्’ (बृ.भा.१.४.७) ।  
( २२.१ )

‘सता तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति’—सत् से सम्पन्न हो जाता है, अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है (छा.६.८.१) ( २३.१ )

‘पर आत्मनि संप्रतिष्ठते’—परमात्मा में स्थित हो जाता है (प्र.४.७) ( २३.१ )

‘पहला हो, आखिरी हो, सन्तत हो, असन्तत हो, जो भी प्रत्यय अविद्यादि दोषों का निवारक हो, वही विद्या है—य एव अविद्यादिदोषनिवृत्तिफलकृत्प्रत्ययः आद्यः अन्यः सन्ततः असन्ततो वा स एव विद्या’ (बृ. भा. १.४.१०)। ( २८.२ )

‘अजं ब्रह्म सर्वमित्येतत् शास्त्राचार्योपदेशतः अनुस्मृत्य तद्विपरीतं जातुं नैव तु पश्यति, अभावात्’—शास्त्राचार्य के उपदेश से ‘सब अज ब्रह्म ही है’ इस प्रकार जब अनुस्मरण करता है, तब, उससे विरुद्ध कुछ नहीं देखता, क्योंकि ऐसा कुछ है ही नहीं। (मां. का. भा. ३.४३)। ( २८.३ )

‘सोऽन्वेष्टव्यः सः विजिज्ञासितव्यः’— उस आत्मा की खोज करनी चाहिये, उसकी विशेषरूप से जिज्ञासा करनी चाहिये (छा. ८.७.१) ( २८.४ )

‘कारणरहित कार्य में भी व्यवहार नहीं हो सकता—न हि निरात्मकं किञ्चित् भूतं व्यवहाराय अवकल्पते’ (गी.भा.९.४)। ( २८.५ )

‘कारणरहित कार्य अभाव ही है—कारण व्यतिरेकेण अभावः कार्यस्य’ (सू.भा.२.१.१४)। ( २८.५ )

‘अन्यस्य च अविद्याकृतत्वे विद्यया अवस्तुत्वदर्शनोपपत्तिः। तद्धि द्वितीयस्य चन्द्रस्य असत्त्वं यदतैमिरिकेण चक्षुष्मता न गृह्यते’—अन्य पदार्थ (द्वैत) के अविद्याकृत होने पर ही अविद्या के द्वारा उसके अवस्तुत्वदर्शन की उपपत्ति हो सकती है। द्वितीय चन्द्र का असत्त्व यही है कि वह तिमिररोगरहित नेत्रों वाले पुरुषों द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता (तै.भा. २.८.५)। ( २८.५ )

‘स्वरूपाश्रय से औदासीन्य और मायाश्रय से प्रवर्तकत्व है—परमात्मनस्तु स्वरूपव्यपाश्रयम् औदासीन्यम् मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वम्’ (सू.भा. २.२.७)। ( २८.५ )

‘आत्मविज्ञान से पहले अपने से अलग ईश्वर से प्राण से नाम तक पदार्थों की उत्पत्ति और प्रलय होते थे। सदात्मविज्ञान होने के बाद वे अपनी आत्मा से ही हो गये। इस प्रकार, ज्ञानी के और भी सब व्यवहार आत्मा से ही होने लगते हैं—प्राक् सदात्मविज्ञानात् स्वात्मनः अन्यस्मात् सतः प्राणादेः नामान्तस्योत्पत्तिप्रलयावभूताम्। सदात्मविज्ञाने तु सति इदानीं स्वात्मत एव संवृत्तौ। तथा सर्वोऽप्यन्यो व्यवहारः आत्मन एव विदुषः’ (छा. भा. ७.२६.१)। ( २८.५ )

